समर्पण ।

जैन श्वेताम्बर श्रीसंघ, कलकत्ता के अग्रगण्य नेता

शेठ नरोत्तमभाई जेठाभाई,

गर्भ-श्रीमन्त होने पर भी सन्त-जनोचित निरभिमानिता, समाज-सेवा में अविश्रान्त प्रवृत्ति, अविचलित धर्म-निष्ठा, प्रशंसनीय साहित्य-प्रेम, पवित्र चारित्र, सहज वदान्यता आदि आदर्श जैन संघ-नायक-योग्य आपके अनेक उत्तम गुणों से मुग्ध हो यह ग्रन्थ आपके कर-कमलों में सादर समर्पित करता हूँ ।

ग्रन्थकार ।

संकेत—सूची।

अ	=	अव्यय।
अक	=	अकर्मक धातु।
(अप)	=	अपभ्रंश भाषा।
(अशो)	=	अशोक शिलालेख।
उभ	=	सकर्मक तथा अकर्मक धातु।
कर्म	=	कर्मणि-वाच्य।
कवकृ	=	कर्मणि-वर्तमान-कृदन्त।
कृ	=	कृत्य-प्रत्ययान्त।
क्रि	=	क्रियापद।
क्रिवि	=	क्रिया-विशेषण।
(चूपै)	=	चूलिकापैशाची भाषा।
लि	=	लिलिङ्ग।
[दे]	=	देश्य-शब्द।
न	=	नपुंसकलिङ्ग।
पुं	=	पुंलिङ्ग।
पुंन	=	पुंलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग।
पुंस्त्री	=	पुंलिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग।
(पै)	=	पैशाची भाषा।
प्रयो	=	प्रेरणार्थक णिजन्त।
ब	=	बहुवचन।
भकृ	=	भविष्यत्कृदन्त।
भवि	=	भविष्यत्काल।
भूका	=	भूतकाल।
भूकृ	=	भूत-कृदन्त।
(मा)	=	मागधी भाषा।
वकृ	=	वर्तमान कृदन्त।
वि	=	विशेषण।
(शौ)	=	शौरसेनी भाषा।
स	=	सर्वनाम।
संकृ	=	संबन्धक कृदन्त।
सक	=	सकर्मक धातु।
स्त्री	=	स्त्रीलिङ्ग।
स्त्रीन	=	स्त्रीलिंग तथा नपुंसकलिंग।
हेकृ	=	हेत्वर्थ कृदन्त।

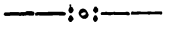

प्रमाण-ग्रन्थों [रेफरन्सेज़] के संकेतों का विवरण।

संकेत।	ग्रन्थ का नाम।	संस्करण आदि।	जिसके अंक दिये गये हैं वह।
अंग	= अंगचूलिआ	हस्तलिखित।	
अंत	= अंतगडदसाओ	* १ रोयल एसियाटिक सोसाइटी, लंडन, १९०७ ...	
		२ आगमोदय-समिति, बंबई, १९२० ...	पत्र
अच्चु	= अच्चुअसअअं	वेणीविलास प्रेस, मद्रास, १८७२ ...	गाथा
अजि	= अजिअसंतिथव	स्व-संपादित, कलकत्ता, संवत् १९७८ ...	,,
अज्झ	= अध्यात्ममतपरीक्षा	१ भीमसिंह माणक, संवत् १९३३ ...	,,
		२ जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर ...	,,
अणु	= अणुओगदारसुत्त	१ राय धनपतिसिंहजी बहादूर, कलकत्ता, संवत् १९३९	
		२ आगमोदय समिति, १९२४ बम्बई, ...	पत्र
अनु	= अणुत्तरोववाइअदसा	* १ रोयल एसियाटिक सोसाइटी, लंडन, १९०७ ...	
		२ आगमोदय-समिति, बंबई, १९२० ...	पत्र
अभि	= अभिज्ञानशाकुन्तल	निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९१६ ...	पृष्ठ
अवि	= अविमारक	त्रिवेन्द्र संस्कृत सिरिज़	,,
आउ	= आउरपच्चक्खाणपयन्नो	१ जैन-धर्म-प्रसारक सभा, भावनगर, संवत् १९६६	गाथा
		२ शा. बालाभाई ककलभाई, अमदावाद, संवत १९६२	,,
आक	= १ आवश्यककथा	हस्तलिखित	
	२ आवश्यक-एर्ज्यालुंगन्	डॉ. इ. ल्युमेन्-संपादित, लाइपजिग, १८९७ ...	पृष्ठ
आचा	= आचारांग सूत्र	* १ डॉ. डबल्यु. शुब्रिंग् संपादित, लाइपजिग, १९१०	
		+ २ आगमोदय-समिति, बंबई, १९१६	श्रुतस्कन्ध, अध्य०
		३ प्रो. रवजीभाई देवराज-संपादित, राजकोट, १९०६	,,
आचानि	= आचाराङ्ग-निर्युक्ति	आगमोदय-समिति, बंबई, १९१६	गाथा
आचू	= आवश्यकचूर्णि	हस्तलिखित	अध्ययन
आत्म	= आत्मसंबोधकुलक	† हस्तलिखित	गाथा
आत्महि	= आत्महितोपदेश-कुलक	,, ...	,,
आत्मानु	= आत्मानुशास्ति-कुलक	,, ...	,,

* ऐसी निशानी वाले संस्करणों में अकारादि क्रम से शब्द-सूची छपी हुई है, इससे ऐसे संस्करणों के पृष्ठ आदि के अंकों का उल्लेख प्रस्तुत कोश में बहुधा नहीं किया गया है, क्योंकि पाठक उस शब्द-सूची से ही अभिलषित शब्द के स्थल को तुरन्त पा सकते हैं। जहाँ किसी विशेष प्रयोजन से अंक देने की आवश्यकता प्रतीत भी हुई है, वहाँ पर उसी ग्रन्थ की पद्धति के अनुसार अंक दिये गये हैं, जिससे जिज्ञासु को अभीष्ट स्थल पाने में विशेष सुविधा हो।

+ इन संस्करणों में श्रुतस्कन्ध, अध्ययन और उद्देश के अङ्क समान होने पर भी सूत्रों के अङ्क भिन्न भिन्न हैं। इससे इस कोष में जिस संस्करण से जो शब्द लिया गया है उसी का सूत्राङ्क वहाँ पर दिया गया है। अंक की गिनती उसी उद्देश या अध्ययन के प्रथम सूत्र से आरम्भ की गई है।

† श्रद्धेय श्रीयुत केशवलालभाई प्रेमचन्द मोदी, बी.ए., एल् एल्.बी. से प्राप्त।

संकेत।	ग्रन्थ का नाम।	संस्करण आदि।	जिस के अंक दिये गये हैं वह।
आनि	= आवश्यकनिर्युक्ति	१ यशोविजय-जैन-ग्रन्थमाला, बनारस। २ हस्तलिखित।	
आप	= आराधनाप्रकरण	शा. बालाभाई ककलभाई, अमदावाद, संवत् १९६२	गाथा
आरा	= आराधनासार	मानिकचन्द-दिगंबर-जैन-ग्रन्थमाला, संवत् १९७३	,,
आव	= आवश्यकसूत्र	हस्तलिखित	
आवम	= आवश्यकसूत्र मलयगिरिटीका	,, ...	
इंदि	= इन्द्रियपराजयशतक	भीमसिंह माणेक, बंबई, संवत् १९६८ ...	गाथा
इक	= दि कोस्मोग्राफी देर् इंदेर्	* डॉ. डबल्यु. किर्फेल-कृत, लाइपजिग, १९२०	
उत्त	= उत्तराध्ययन सूत्र	१ राय धनपतिसिंह बहादूर, कलकत्ता, संवत् १९३६	अध्ययन, गाथा
		२ स्व-संपादित, कलकत्ता, १९२३	,,
		+ ३ हस्तलिखित	,,
उत्त का	= ,,	डो. जे. कारपेंटिअर-संपादित, १९२१ ...	,,
उत्तनि	= उत्तराध्ययननिर्युक्ति	हस्तलिखित	,,
उत्तर	= उत्तररामचरित्र	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१५ ...	पृष्ठ
उप	= उपदेशपद	हस्तलिखित	गाथा
उप टी	= उपदेशपद-टीका	हस्तलिखित	मूल-गाथा
उपपं	= उपदेशपंचाशिका	† ,,	गाथा
उप पृ	= उपदेशपद	जैन-विद्या-प्रचारक वर्ग, पालीताणा... ...	पृष्ठ
उर	= उपदेशरत्नाकर	देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई, १९१४ ...	अंश, तरंग
उव	= उवएसमाला	* डॉ. एल्. पी. टेसेटोरि-संपादित, १९१३ ...	
उवकु	= उपदेशकुलक	† हस्तलिखित ...	गाथा
उवर	= उपदेशरहस्य	मनसुखभाई भगुभाई, अमदावाद, संवत् १९६७ ...	,,
उवा	= उवासगदसाओ	* एसियाटिक सोसाइटी, बंगाल, कलकत्ता, १८९० ...	
ऊरु	= ऊरुभंग	त्रिवेन्द्र संस्कृत-सिरिज	पृष्ठ
ओघ	= ओघनिर्युक्ति	आगमोदय समिति, बम्बई, १९१९ ...	गाथा
ओघ भा	= ओघनिर्युक्ति-भाष्य	,, ...	,,
औप	= औपपातिकसूत्र	* डॉ. इ. ल्युमेन्-संपादित, लाइपजिग, १८८३ ...	
कप्प	= कल्पसूत्र	* डॉ. एच्. जेकोबी-संपादित, लाइपजिग, १८७९ ...	
कप्पू	= कर्पूरमञ्जरी	* हॉर्वर्ड् ओरिएन्टल् सिरिज, १९०१ ...	
कम्म १	= कर्मग्रन्थ पहला	* आत्मानन्द-जैन-पुस्तक-प्रचारक मण्डल, आगरा, १९१८	गाथा
कम्म २	= ,, दूसरा	* ,, ,, ,,	,,
कम्म ३	= ,, तीसरा	* ,, ,, १९१९	,,
कम्म ४	= ,, चौथा	* ,, ,, १९२३	,,

+ सुखबोधा-नामक प्राकृत-बहुल टीका से विभूषित यह उत्तराध्ययन सूत्र की हस्त-लिखित प्रति आचार्य श्रीविजय-मेघसूरिजी के भंडार से श्रद्धेय श्रीयुत के. प्रे. मोदी द्वारा प्राप्त हुई थी, इस प्रति के पत्र १८६ हैं।

† श्रद्धेय श्रीयुत के. प्रे. मोदी द्वारा प्राप्त।

संकेत।	ग्रन्थ का नाम।	संस्करण आदि।	जिसके अंक दिये गये हैं वह।
कम्म ५	= कर्मग्रन्थ पाँचवाँ	१ भीमसिंह माणेक, बम्बई, संवत् १९६८ ...	गाथा
		२ जैन-धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, संवत् १९६८	,,
कम्म ६	= ,, छठवाँ	,, ...	,,
कम्मप	= कर्मप्रकृति	जैन-धर्म-प्रसारक-सभा, भावनगर, १९१७ ...	पत्र
करु	= करुणावज्रायुधम्	आत्मानन्द-जैन-सभा, भावनगर, १९१६ ...	पृष्ठ
कर्ण	= कर्णाभार	त्रिवेन्द्र-संस्कृत-सिरिज	,,
कर्पूर	= कर्पूरचरित (भाण)	गायकवाड ओरिएन्टल् सिरिज, नं. ८, १९१८	,,
कर्म	= कर्मकुलक	† हस्त-लिखित	गाथा
कस	= (बृहत्) कल्पसूत्र	* डॉ, डबल्यु. शुब्रिं-संपादित, लाइपजिग, १९०५ ...	
काप्र	= काव्यप्रकाश	वामनाचार्यकृत-टीका-युक्त, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ...	पृष्ठ
काल	= कालकाचार्यकथानक	* डॉ. एच्. जेकोबी-संपादित, जेड्-डी-एम्-जो, खंड ३४, १८८०	
किरात	= किरातार्जुनीय (व्यायोग)	गायकवाड ओरिएन्टल् सिरिज, नं ८, १९१८	पृष्ठ
कुप्र	= कुमारपालप्रतिबोध	गायकवाड-ओरिएयटल् सिरिज, १९२० ...	,,
कुमा	= कुमारपालचरित	* बंबई-संस्कृत-सिरिज, १९०० ...	
कुम्मा	= कुम्मापुत्तचरिअ	स्व-संपादित, कलकत्ता, १९१९	पृष्ठ
कुलक	= कुलकसंग्रह	जैन श्रेयस्कर मंडल, म्हेसाणा, १९१४	,,
खा	= खामणाकुलक	† हस्तलिखित	गाथा
खेत्त	= लघुक्षेत्रसमास	भीमसिंह माणेक, बंबई, संवत् १९६८ ...	,,
गउड	= गउडवहो	* बंबई-संस्कृत-सिरिज, १८८७	
गच्छ	= गच्छाचारपयन्नो	१ हस्तलिखित	अधिकार, गाथा
		२ चंदुलाल मोहोलाल कोठारी, अहमदाबाद, संवत् १९८०	,,
		३ शेठ जमनाभाई भगूभाई, अहमदाबाद, १९२४	,,
गणा	= गणधरस्मरण	स्व-संपादित, कलकत्ता, संवत् १९७८ ...	गाथा
गणि	= गणिविज्जापयन्नो	राय धनपतिसिंह बहादूर, कलकत्ता, १८४२ ...	,,
गा	= गाथासप्तशती	+ १ डॉ. ए. वेबर्-संपादित, लाइपजिग, १८८१	,,
		२ निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९११ ...	,,
गु	= गुरुपारतन्त्र्य-स्मरण	स्व-संपादित, कलकत्ता, संवत् १९७८ ...	गाथा
गुणा	= गुणानुरागकुलक	अंबालाल गोवर्धनदास, बम्बई, १९१३ ...	,,

† श्रद्धेय के. प्रे. मोदी द्वारा प्राप्त।

+ लाइपजिग वाले संस्करण का नाम "सप्तशतक डेस हाल" है और बम्बई वाले का "गाथासप्तशती"। ग्रन्थ एक ही है, परन्तु बम्बई वाले संस्करण में सात शतकों के विभाग में करीब ७०० गाथाएँ छपी हैं और लाइपजिग वाले में सीधे नंबर से ठीक १०००। एक से ७०० तक की गाथाएँ दोनों संस्करणों में एक-सी हैं, परन्तु गाथाओं के क्रम में कहीं कहीं दो चार नंबरों का आगा-पीछा है। ७०० के बाद का और ७०० के भीतर भी जहां गाथांक के अनन्तर 'अ' दिया है वह नंबर केवल लाइपजिग के ही संस्करण का है।

संकेत।	ग्रन्थ का नाम।	संस्करण आदि।	जिसके अंके दिये गए हैं वह।
गुभा =	गुरुवन्दनभाष्य	भीमसिंह माणेक, बम्बई, संवत् १९६२ ...	गाथा
गुरु =	गुरुप्रदक्षिणाकुलक	अंबालाल गोवर्धनदास, बम्बई, १९१३ ...	,,
गोय =	गौतमकुलक	भीमसिंह माणेक, बम्बई, संवत् १९६५ ...	,,
चउ =	चउसरणपयन्नो	१ जैन-धर्म-प्रसारक-सभा, भावनगर, संवत् १९६६ ...	,,
		२ शा. बालाभाई ककलभाई, अमदावाद, संवत् १९६२	,,
चंड =	प्राकृतलक्षण	* एसियाटिक सोसाइटी, बंगाल, कलकत्ता, १८८० ...	
चंद =	चंदपन्नत्ति	हस्तलिखित	पाहुड
चारु =	चारुदत्त	त्रिवेन्द्र-संस्कृत-सिरिज ...	पृष्ठ
चेइय =	चेइयवंदणमहाभास	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, संवत् १९६२ ...	गाथा
चैत्य =	चैत्यवन्दन भाष्य	भीमसिंह माणेक, बम्बई, संवत् १९६२ ...	,,
जं =	जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति	१ देवचंद लालभाई पु० फंड, बम्बई, १९२० ...	वक्षस्कार
		२ हस्तलिखित	,,
जय =	जयतिहुअण-स्तोत्र	जैन प्रभाकर प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम, प्रथमावृत्ति ...	गाथा
जी =	जीवविचार	आत्मानन्द-जैन-पुस्तक-प्रचारक-मंडल, आगरा, संवत् १९७८	,,
जीत =	जीतकल्प	हस्तलिखित	
जीव =	जीवाजीवाभिगमसूत्र	देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई, १९१९ ...	प्रतिपत्ति
जीवस =	जीवसमासप्रकरण	† हस्तलिखित	गाथा
जीवा =	जीवानुशासनकुलक	अंबालाल गोवर्धनदास, बम्बई, १९१३ ...	,,
जो =	ज्योतिष्करण्डक	हस्तलिखित	पाहुड
टि =	+ टिप्पण (पाठान्तर)	... ...	
टी =	‡ टीका	... ...	
ठा =	ठाणांगसुत्त	आगमोदय-समिति, बम्बई, १९१८-१९२० ...	ठाणा०
णंदि =	णंदिसूत्र	१ हस्तलिखित	
		२ आगमोदय समिति, बम्बई, १९२४	पत्र
णमि =	णमिऊण-स्मरण	स्व-संपादित, कलकत्ता, संवत् १९७८ ...	गाथा
णाया =	णायाधम्मकहासुत्त	आगमोदय समिति, बम्बई, १९१९ ...	श्रुतस्कन्ध, अध्य०
तंदु =	तंदुलवेयालियपयन्नो	१ हस्तलिखित ...	
		२ दे०ला० पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई, १९२२ ...	पत्र
ति =	तिजयपहुत्त	जैन-ज्ञान-प्रसारक-मंडल, बम्बई, १९११ ...	गाथा
तित्थ =	तित्थुग्गालियपयन्नो	हस्तलिखित ...	

† श्रद्धेय श्रीयुत के. प्रे. मोदी द्वारा प्राप्त।

+ पाठान्तर वाले संस्करणों के जो पाठान्तर हमें उपादेय मालूम पड़े हैं उन्हें भी इस कोष में स्थान दिया है और प्रमाण के पास 'टि' शब्द जोड़ दिया है जिससे उस शब्द को उसी स्थान के टिप्पन का समझना चाहिए।

‡ जहां पर प्रमाण में ग्रन्थ-संकेत और स्थान-निर्देश के अनन्तर 'टी' शब्द लिखा है वहां उस ग्रन्थ के उसी स्थान की टीका के प्राकृतांश से मतलब है।

संकेत।	ग्रन्थ का नाम।	संस्करण आदि।		जिसके अंक दिये गये हैं वह।
ती	= तीर्थकल्प	हस्तलिखित	...	कल्प
ति	= तिपुरदाह (डिम)	गायकवाड ओरिएन्टल् सिरिज, नं ८, १९१८	...	पृष्ठ
दं	= दंडकप्रकरण	१ जैन-ज्ञान-प्रसारक-मंडल, बम्बई, १९११	...	गाथा
		२ भीमसिंह माणेक, बम्बई, १९०८		,,
दंस	= दर्शनशुद्धिप्रकरण	हस्तलिखित	...	तत्त्व
दस	= दशवैकालिकसूत्र	१ भीमसिंह माणेक, बम्बई, १९००	...	अध्ययन०
		२ डॉ. जीवराज घेलाभाई, अमदावाद, १९१२		,,
दसचू	= दशवैकालिकचूलिका	,,	...	चूलिका०
दसनि	= दशवैकालिकनिर्युक्ति	भीमसिंह माणेक, बंबई, १९००	...	अध्ययन, गाथा
दसा	= दशाश्रुतस्कन्ध	हस्तलिखित	...	,,
दीव	= दीवसागरपन्नत्ति	,,	...	
दूत	= दूतघटोत्कच	त्रिवेन्द्र-संस्कृत-सिरिज	...	पृष्ठ
दे	= देशीनाममाला	बम्बई-संस्कृत-सिरिज, १८८०	...	वर्ग, गाथा
देव	= देवेन्द्रस्तवप्रकीर्णक	हस्तलिखित	...	
देवेन्द्र	= देवेन्द्रनरकेन्द्रप्रकरण	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९२२	...	गाथा
द्र	= द्रव्यसित्तरी	१ जैन-धर्म-प्रसारक-सभा, भावनगर, संवत् १९५८		,,
		२ शा. वेणीचंद सूरचंद, म्हेसाणा, १९०६	...	,,
द्रव्य	= द्रव्यसंग्रह	जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय, बम्बई, १९०६		,,
धण	= ऋषभपंचाशिका	काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, बम्बई, १८९०	...	,,
धम्म	= धर्मरत्नप्रकरण सटीक	१ जैन-विद्या-प्रचारक वर्ग, पालीताणा, १९०५	...	मूल-गाथा
		२ हस्तलिखित	...	,,
धम्मो	= धम्मोवएसकुलक	† हस्तलिखित	...	गाथा
धर्म	= धर्मसंग्रह	जैन-विद्या-प्रचारक-वर्ग, पालीताणा, १९०५	..	अधिकार
धर्मवि	= धर्मविधिप्रकरण सटीक	जेसंगभाई छोटालाल सुतरीया, अहमदावाद, १९२४		पत्र
धर्मसं	= धर्मसंग्रहणी	दे० ला० पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई, १९१६-१८	...	गाथा
धर्मा	= धर्माभ्युदय	जैन-आत्मानन्द-सभा, भावनगर, १९१८	...	पृष्ठ
धात्वा	= प्राकृतधात्वादेश	एसियाटीक सोसाइटी ओफ बंगाल, १९२४	...	पृष्ठ
ध्व	= ध्वन्यालोक	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	...	,,
नव	= नवतत्त्वप्रकरण	१ आत्मानन्द-जैन-सभा, भावनगर	...	गाथा
		२ आद्य-जैन-धर्म-प्रवर्तक-सभा, अमदावाद, १९०६		,,
नाट	= ‡ नाटकीयप्राकृतशब्दसूची			

† श्रद्धेय श्रीयुत के. प्रे. मोदी द्वारा प्राप्त।

‡ सेंट्रल लाइब्रेरी, बडोदा में स्थित एक मुखपृष्ठ-हीन पुस्तक से गृहीत, जिसके पूर्व भाग में क्रमदीश्वर का प्राकृत व्याकरण और उत्तर भाग में 'प्राकृताभिधानम्' शीर्षक से कतिपय ग्रन्थों से उद्धृत प्राकृत शब्दों की एक छोटी सी सूची छपी हुई है। इस सूची में उन ग्रन्थों के जो संक्षिप्त नाम और पृष्ठाङ्क दिये गये हैं वे ही नाम तथा पृष्ठाङ्क ज्यों के त्यों प्रस्तुत कोष में भी यथास्थान 'नाट' के बाद रखे गये हैं। उक्त पुस्तक में उन ग्रन्थों के संक्षिप्त नामों तथा संस्करणों का विवरण इस तरह है;—

संकेत।	ग्रन्थ का नाम।	संस्करण आदि।		जिसके अंक दिये गये हैं वह।
निचू	= निशीथचूर्णि	हस्तलिखित	...	उद्देश
निर	= निरयावलीसूत्र	१ हस्तलिखित	...	वर्ग, अध्य०
		२ आगमोदय-समिति, बम्बई, १९२२	...	,,
निसा	= निशाविरामकुलक	† हस्तलिखित	...	गाथा
निसी	= निशीथसूत्र	हस्तलिखित	...	उद्देश
पउम	= पउमचरिअ	जैन-धर्म-प्रसारक-सभा, भावनगर, प्रथमावृत्ति	...	पर्व, गाथा
पंच	= पंचसंग्रह	१ हस्तलिखित	...	द्वार, गाथा
		२ जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९१९	...	,,
पंचभा	= पंचकल्पभाष्य	हस्तलिखित	...	
पंचव	= पंचवस्तु	,, ...	...	द्वार
पंचा	= पंचासकप्रकरण	जैन-धर्म-प्रसारक सभा, भावनगर, प्रथमावृत्ति	...	पंचासक
पंचू	= पंचकल्पचूर्णि	हस्तलिखित ...	...	
पंनि	= पंचनिर्ग्रन्थीप्रकरण	आत्मानन्द-जैन सभा, भावनगर, संवत् १९७४	...	गाथा
पंरा	= पंचरात्र	त्रिवेन्द्र संस्कृत-सिरिज	...	पृष्ठ
पंसू	= पंचसूत्र	हस्तलिखित ...	...	सूत्र
पक्खि	= पक्खिसूत्र	भीमसिंह माणेक, बम्बई, संवत् १९६२	...	
पच्च	= महापच्चक्खाणपयन्नो	शा. बालाभाई ककलभाई, अमदावाद, संवत् १९६२		गाथा
पडि	= पंचप्रतिक्रमणसूत्र	१ जैन-ज्ञान-प्रसारक-मंडल, बम्बई, १९११	...	
		२ आत्मानन्द-जैन-पुस्तक-प्रचारक-मंडल, आगरा, १९२१		
पण्ण	= पण्णवणासुत्त	राय धनपतिसिंह बहादूर, बनारस, संवत् १९४०	...	पद

मालती	for	मालतीमाधवम्	Calcutta Edition of 1830
चैत	,,	चैतन्यचन्द्रोदयम्	,, 1854
विक्र	,,	विक्रमोर्वशी	,, 1830
साहित्य	,,	साहित्यदर्पण	Edition of Asiatic Society
उत्तर	,,	उत्तररामचरित	Calcutta Edition of 1831
रत्ना	,,	रत्नावली	,, 1832
मृच्छ	,,	मृच्छकटिक	,, 1832
प्राप्र	,,	प्राकृतप्रकाश	Mr. Cowell's Edition of 1854
शकु	,,	शकुन्तला	Calcutta Edition of 1840
मालवि	,,	मालविकाग्निमित्र	Tulberg's Edition of 1850
वेणि	,,	वेणिसंहार	Muktaram's Edition of 1855
पाअ	,,	संक्षिप्तसारस्य प्राकृताध्यायः	
महावी	,,	महावीरचरितम्	Trithen's Edition of 1848
पिंग	,,	पिंगलः	Ms.

† श्रद्धेय के. प्रे. मोदी द्वारा प्राप्त।

संकेत ।	ग्रन्थ का नाम ।	संस्करण आदि ।	जिसके अंक दिये गये हैं वह ।
विक्र =	विक्रान्तकौरव	माणिकचंद-दिगम्बर-जैन-ग्रन्थ-माला, संवत् १९७२	पृष्ठ
विचार =	विचारसारप्रकरण	आगमोदय-समिति, बम्बई, १९२३ ...	गाथा
विपा =	विपाकश्रुत	स्व-संपादित, कलकत्ता, संवत् १९७६ ...	श्रुतस्कन्ध, अध्य०
विवे =	विवेकमंजरीप्रकरण	स्व-संपादित, बनारस, संवत् १९७५-७६ ...	गाथा
विसे =	विशेषावश्यकभाष्य	स्व-संपादित, बनारस, वीर-संवत् २४४१ ...	,,
वृष =	वृषभानुजा	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८९५ ...	पृष्ठ
वेणी =	वेणीसंहार	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१५ ...	,,
वै =	वैराग्यशतक	विट्ठलभाई जीवाभाई पटेल, अमदावाद, १९२०	गाथा
श्रा =	श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति	दे०ला० पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई, १९१९ ...	मूलगाथा
श्रावक =	श्रावकप्रज्ञप्ति	श्रीयुत केशवलाल प्रेमचन्द संपादित, १९०५ ...	गाथा
श्रु =	श्रुतास्वाद	†· हस्तलिखित ...	,,
षड् =	षड्भाषाचन्द्रिका	* बम्बई संस्कृत एन्ड् प्राकृत सिरिज, १९१६ ...	
स =	समराइच्चकहा	एसियाटिक सोसाइटी, बंगाल, कलकत्ता, १९०८-२३	पृष्ठ
सं =	संबोधसत्तरी	विट्ठलभाई जीवाभाई पटेल, अमदावाद, १९२० ...	गाथा
संक्षि =	संक्षिप्तसार	१ हस्तलिखित ...	
		२ संस्कृत प्रेस डिपोजिटरी, कलकत्ता, १८८९ ...	पृष्ठ
संग =	बृहत्संग्रहणी	१ भीमसिंह माणेक, बम्बई, संवत् १९६८ ...	गाथा
		२ आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर, संवत् १९७३	,,
संघ =	संघाचारभाष्य	हस्तलिखित ...	प्रस्ताव
संच =	शान्तिनाथचरित्र (देवचन्द्रसूरि-कृत)	,, ...	
संति =	संतिकरस्तोत्र	१ जैन-ज्ञान-प्रसारक-मंडल, बम्बई, १९११ ...	गाथा
		२ आत्मानन्द-जैन-पुस्तक-प्रचारक-मंडल, आगरा, १९२१	,,
संथा =	संथारगपयन्नो	१ हस्तलिखित ...	,,
		२ जैन-धर्म-प्रचारक-सभा, भावनगर, संवत् १९६६	,,
संबोध =	संबोधप्रकरण	जैन-ग्रन्थ-प्रकाशक-सभा, अहमदाबाद, १९१६ ...	पत्र
संवे =	संवेगचूलिकाकुलक	†· हस्तलिखित ...	गाथा
संवेग =	संवेगमंजरी	,, ...	,,
सट्ठि =	सट्ठिसयपयरण	१ स्व-संपादित, बनारस, १९१७ ...	,,
		२ सत्यविजय-जैन-ग्रन्थमाला, नं. ६, अहमदाबाद, १९२५	,,
सण =	सनत्कुमारचरित	* डा. एच. जेकोबी-संपादित, १९२१ ...	
सत्त =	उपदेशसप्ततिका	जैन धर्म-प्रसारक-सभा, भावनगर, संवत् १९७६ ...	गाथा
सम =	समवायांगसूत्र	आगमोदय-समिति, बम्बई, १९१८ ...	पृष्ठ
समु =	समुद्रमन्थन (समवकार)	गायकवाड ओरिएन्टल सिरिज, नं. ८, १९१८ ...	,,
सम्म =	सम्मतिसूत्र	जैन-धर्म-प्रसारक-सभा, भावनगर, संवत् १९६५ ...	गाथा

†· श्रद्धेय श्रीयुत के. प्रे. मोदी द्वारा प्राप्त ।

संकेत।	ग्रन्थ का नाम।	संस्करण आदि।		जिसके अंक दिये गये हैं वह।
निचू	= निशीथचूर्णि	हस्तलिखित	...	उद्देश
निर	= निरयावलीसूत्र	१ हस्तलिखित	...	वर्ग, अध्य०
		२ आगमोदय-समिति, बम्बई, १९२२	...	,,
निसा	= निशाविरामकुलक	† हस्तलिखित	...	गाथा
निसी	= निशीथसूत्र	हस्तलिखित	...	उद्देश
पउम	= पउमचरिअ	जैन-धर्म-प्रसारक-सभा, भावनगर, प्रथमावृत्ति	...	पर्व, गाथा
पंच	= पंचसंग्रह	१ हस्तलिखित	...	द्वार, गाथा
		२ जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९१९	...	,,
पंचभा	= पंचकल्पभाष्य	हस्तलिखित	...	
पंचव	= पंचवस्तु	,, ...	...	द्वार
पंचा	= पंचासकप्रकरण	जैन-धर्म-प्रसारक सभा, भावनगर, प्रथमावृत्ति	...	पंचासक
पंचू	= पंचकल्पचूर्णि	हस्तलिखित	...	
पंनि	= पंचनिर्ग्रन्थीप्रकरण	आत्मानन्द-जैन सभा, भावनगर, संवत् १९७४	...	गाथा
पंरा	= पंचरात्र	त्रिवेन्द्र-संस्कृत-सिरिज	...	पृष्ठ
पंसू	= पंचसूत्र	हस्तलिखित ...	...	सूत्र
पक्खि	= पक्खिसूत्र	भीमसिंह माणेक, बम्बई, संवत् १९६२	...	
पच्च	= महापच्चक्खाणपयन्नो	शा. बालाभाई ककलभाई, अमदावाद, संवत् १९६२		गाथा
पडि	= पंचप्रतिक्रमणसूत्र	१ जैन-ज्ञान-प्रसारक-मंडल, बम्बई, १९११	...	
		२ आत्मानन्द-जैन-पुस्तक-प्रचारक-मंडल, आगरा, १९२१		
पण्ण	= पण्णवणासुत्त	राय धनपतिसिंह बहादूर, बनारस, संवत् १९४०	...	पद

मालती	for	मालतीमाधवम्	Calcutta Edition of 1830
चैत	,,	चैतन्यचन्द्रोदयम्	,, 1854
विक्र	,,	विक्रमोर्वशी	,, 1830
साहित्य	,,	साहित्यदर्पण	Edition of Asiatic Society
उत्तर	,,	उत्तररामचरित	Calcutta Edition of 1831
रत्ना	,,	रत्नावली	,, 1832
मृच्छ	,,	मृच्छकटिक	,, 1832
प्राप्र	,,	प्राकृतप्रकाश	Mr. Cowell's Edition of 1854
शकु	,,	शकुन्तला	Calcutta Edition of 1840
मालवि	,,	मालविकाग्निमित्र	Tulberg's Edition of 1850
वेणि	,,	वेणिसंहार	Muktaram's Edition of 1855
पाअ	,,	संक्षिप्तसारस्य प्राकृताध्यायः	
महावी	,,	महावीरचरितम्	Trithen's Edition of 1848
पिंग	,,	पिंगलः	Ms.

† श्रद्धेय के. प्रे. मोदी द्वारा प्राप्त।

संकेत।	ग्रन्थ का नाम।	संस्करण आदि।		जिसके अंक दिये गये हैं वह।
विक्र	= विक्रान्तकौरव	माणिकचंद-दिगम्बर-जैन-ग्रन्थ-माला, संवत् १९७२		पृष्ठ
विचार	= विचारसारप्रकरण	आगमोदय-समिति, बम्बई, १९२३	...	गाथा
विपा	= विपाकश्रुत	स्व-संपादित, कलकत्ता, संवत् १९७६	...	श्रुतस्कन्ध, अध्य०
विवे	= विवेकमंजरीप्रकरण	स्व-संपादित, बनारस, संवत् १९७५-७६	...	गाथा
विसे	= विशेषावश्यकभाष्य	स्व-संपादित, बनारस, वीर-संवत् २४४१	...	,,
वृष	= वृषभानुजा	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८९५	...	पृष्ठ
वेणी	= वेणीसंहार	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१५	...	,,
वै	= वैराग्यशतक	विट्ठलभाई जीवाभाई पटेल, अमदावाद, १९२०		गाथा
श्रा	= श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति	दे०ला० पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई, १९१९	...	मूलगाथा
श्रावक	= श्रावकप्रज्ञप्ति	श्रीयुत केशवलाल प्रेमचन्द संपादित, १९०५	...	गाथा
श्रु	= श्रुतास्वाद	† हस्तलिखित	...	,,
षड्	= षड्भाषाचन्द्रिका	* बम्बई संस्कृत एन्ड् प्राकृत सिरिज, १९१६	...	
स	= समराइच्चकहा	एसियाटिक सोसाइटी, बंगाल, कलकत्ता, १९०८-२३		पृष्ठ
सं	= संबोधसत्तरी	विट्ठलभाई जीवाभाई पटेल, अमदावाद, १९२०	...	गाथा
संक्षि	= संक्षिप्तसार	१ हस्तलिखित	....	
		२ संस्कृत प्रेस डिपोजिटरी, कलकत्ता, १८८९	...	पृष्ठ
संग	= बृहत्संग्रहणी	१ भीमसिंह माणेक, बम्बई, संवत् १९६८	...	गाथा
		२ आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर, संवत् १९७३		,,
संघ	= संघाचारभाष्य	हस्तलिखित	...	प्रस्ताव
संच	= शान्तिनाथचरित्र (देवचन्द्रसूरि-कृत)	,,	...	
संति	= संतिकरस्तोत्र	१ जैन-ज्ञान-प्रसारक-मंडल, बम्बई, १९११	...	गाथा
		२ आत्मानन्द-जैन-पुस्तक-प्रचारक-मंडल, आगरा, १९२१		,,
संथा	= संथारगपयन्नो	१ हस्तलिखित	...	,,
		२ जैन-धर्म-प्रचारक-सभा, भावनगर, संवत् १९६६		,,
संबोध	= संबोधप्रकरण	जैन-ग्रन्थ-प्रकाशक-सभा, अहमदाबाद, १९१६	...	पत्र
संवे	= संवेगचूलिकाकुलक	† हस्तलिखित	...	गाथा
संवेग	= संवेगमंजरी	,,	...	,,
सट्ठि	= सट्ठिसयपयरण	१ स्व-संपादित, बनारस, १९१७	...	,,
		२ सत्यविजय-जैन-ग्रन्थमाला, नं. ६, अहमदाबाद, १९२५		,,
सण	= सनत्कुमारचरित	* डा. एच. जेकोबी-संपादित, १९२१	...	
सत्त	= उपदेशसप्ततिका	जैन धर्म-प्रसारक-सभा, भावनगर, संवत् १९७६	...	गाथा
सम	= समवायांगसूत्र	आगमोदय-समिति, बम्बई, १९१८	...	पृष्ठ
समु	= समुद्रमन्थन (समवकार)	गायकवाड ओरिएन्टल सिरिज, नं. ८, १९१८	...	,,
सम्म	= सम्मतिसूत्र	जैन-धर्म-प्रसारक-सभा, भावनगर, संवत् १९६५	...	गाथा

† श्रद्धेय श्रीयुत के. प्रे. मोदी द्वारा प्राप्त।

संकेत।	ग्रन्थ का नाम।	संस्करण आदि।		जिसके अंक दिये गये हैं वह।
सम्मत्त =	सम्यक्त्वसप्तति सटीक	दे० ला० पुस्तकोद्धार-फंड, बम्बई, १९१६	...	पत्र
सम्य =	सम्यक्त्वस्वरूप पच्चीसी	अंबालाल गोवर्धनदास, बम्बई, १९१३	...	गाथा
सम्यक्त्वो =	सम्यक्त्वोत्पादविधिकुलक	† हस्तलिखित	...	,,
सा =	सामान्यगुणोपदेशकुलक	,,	...	,,
सार्ध =	गणधरसार्धशतकप्रकरण	जौहरी चुन्नीलाल पन्नालाल, बम्बई, १९१६	..	,,
सिक्खा =	शिक्षाशतक	† हस्तलिखित	...	,,
सिग्घ =	सिग्घमवहरउ-स्मरण	स्व-संपादित, कलकत्ता, संवत् १९७८	...	,,
सिरि =	सिरिसिरिवालकहा	दे० ला० पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई, १९२३	...	,,
सुख =	सुखबोधा टीका (उत्तराध्ययनस्य)	‡ हस्तलिखित	...	अध्ययन, गाथा
सुज =	सूर्यप्रज्ञप्ति	आगमोदय-समिति, बम्बई, १९१९	...	पाहुड
सुपा =	सुपासनाहचरिअ	स्व-संपादित, बनारस, १९१८-१९	...	पृष्ठ
सुर =	सुरसुंदरीचरिअ	जैन-विविध-साहित्य-शास्त्र-माला, बनारस, १९१६	...	परिच्छेद, गाथा
सूअ =	सूअगडांगसुत्त	§ १ भीमसिंह माणेक, बम्बई, १९३६	...	श्रुतस्कंध, अध्य०
		२ आगमोदय-समिति, बम्बई, संवत् १९१७	...	,,
सूअनि =	सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति	१ हस्तलिखित	...	श्रुतस्कन्ध
		२ आगमोदय-समिति, बम्बई, संवत् १९७३	...	गाथा
		३ भीमसिंह माणेक ,, ,, १९३६	...	,,
सूक्त =	सूक्तमुक्तावली	दे० ला० पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई, १९२२	...	पत्र
से =	सेतुबंध	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८९५	...	आश्वासक, पद्य
स्वप्न =	स्वप्नवासवदत्त	त्रिवेन्द्र-संस्कृत-सिरिज	...	पृष्ठ
हम्मीर =	हम्मीरमदमर्दन	गायकवाड ओरिएन्टल सिरिज, नं. १०, १९२०	...	,,
हास्य =	हास्यचूडामणि (प्रहसन)	,,	...	,,
हि =	हितोपदेशकुलक	† हस्तलिखित	...	गाथा
हित =	हितोपदेशसारकुलक	,,	...	,,
हे =	हेमचन्द्र-प्राकृत-व्याकरण	* १ डॉ. आर्. पिशेल्-संपादित, १८७७	...	पद, सूत्र
		२ बम्बई-संस्कृत-सिरिज, १९००	...	,,
हेका =	हेमचन्द्र-काव्यानुशासन	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९०१	...	पृष्ठ

—*○*—

† श्रद्धेय श्रीयुत के. प्रे. मोदी द्वारा प्राप्त।

‡ देखो 'उत्त' के नीचे की टिप्पनी।

§ सूत्र के अंक इन दोनो में भिन्न भिन्न हैं, प्रस्तुत कोष में सूत्राङ्क केवल भो. मा. के संस्करण के दिये गये है।

शुद्धिपत्र ।

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	१	२१	विसे ;	विसे
५	१	२०	प्ररणा	प्रेरणा
,,	२	१०	**अईअ**	**अईअ** पुं
,,	२	१०	२ जो	२ वि. जो
६	२	११	**°वाली °ली**	**°वालि, °वाली**
,,	२	११	**°ली,**	**°पाली**
८	१	३४	**अंङ्गुलि**	**अङ्गुलि**
,,	१	३७	परिणाम	परिमाण
९	१	३२	२, ३७	१, ३७
,,	२	३	**अंजणिआ**	**अंजणी**
,,	२	३	**अञ्जनिका**	**अञ्जनी**
,,	२	८	निसी	निचू
,,	२	१८	१, ९ ;	१, १ ;
,,	२	२०	२, १	१, १
,,	२	२६	१, २	२
१०	२	१	**°द्धाणिया**	**°द्धाणी**
,,	२	२	**°धानिका**	**°र्धानी**
,,	२	२४	१, २	१, ३
११	२	३	निसी	निचू
१२	१	४	**मज्झोवसाणिय पुं**	**मज्झावसाणिय पुंन**
१३	२	९	**अबरिस**	**अंबरिस**
१४	१	१४	दरवाजा एक अंश	दरवाजे का तख्ता
१५	२	१	**आलसु**	**आलसी**
१७	१	३१	**णिहितव**	**निहि**
,,	१	३१	**निधितपस्**	**निधि**
,,	१	३२	पंचा ९	पव २७१
१८	२	३८	वव १	वव १ टी
१९	१	३	घव-	अघव-
,,	१	३४	**अणिए अ**	**अणिएअ-**
२१	१	२	**तावसय**	**तावस**
,,	१	३	**तापसक**	**तापस**
२२	२	३८	**अर्ह**	**अर्ह**

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३	१	३२	'२' से '२३८४'	०
,,	२	१	निसी	निचू
२६	१	१५	**अच्चणिउरंग**	**अच्छणिउरंग**
२७	२	३७	पंचा ८	पंचा ७
२९	१	२	**अज्जं**	**अज्ज°**
,,	१	३८	२, २	२, १
३१	१	१७	१९४	१७४
,,	२	२	चितियं	चिंतियं
,,	२	३७	**अथ**	**अर्थ**
,,	२	२१	तत्तव	तत्त्व
३२	१	३४	**त्रि**	**स्त्रीन**
,,	२	२२	**स्त्री**	**स्त्रीन**
,,	२	३४	**न [अस्थान]**	**वि [अस्थानिक]**
३३	१	२४	७ ;	९ ;
३५	१	१३	**अण**	**°अण**
३६	१	३०	**अनगारिक**	**आनगारिक**
,,	१	३३	**पुं**	**वि**
,,	१	३४	२	२ पुं.
,,	२	२८	(ाचा)	(आचा)
३७	१	३६	खुला	खिला
३८	२	१२	**अनध्यासक**	**अनध्यास**
३९	२	३६	**अवृष्टि**	**अनावृष्टि**
४०	१	७	**अणासिय**	**अणासिय वि [**
,,	२	२०	(दस १)।	(दस ५, १)।
४१	२	४	**अणिहस**	**अणीहस**
,,	२	६	**अणिय**	**अणीय**
,,	२	३५	(दे १, ५२)	(दे १, ५)।
४२	२	१२	हत	हित
४४	१	२१	१, ३, ३	१, ७
,,	१	२२	३	३२
,,	१	२४	**लिइत्ता**	**लित्ता**
४५	२	२७	**अणजुत्ति**	**अणुजुत्ति**
,,	२	२८	१, ४, १	१, ३, ३

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४६	१	१	**अनुर्जित**	**अनूर्जित**
,,	१	२१	आलसु	आलसी
४८	२	३४	बाला	वाला
५३	१	२१	**अनुपालिन्**	**अनुपातिन्**
५४	१	५	**अणुवेय**	**अणुवेद**
,,	१	६	**अणुवेयंत**	**अणुवेदयंत**
,,	२	२१	अणुसज्जित्था ;	अणुसज्जित्था ;
५५	२	३३	१, २, १	१, २, २
५६	२	२०	-मक्खंति	-मक्खाति
,,	२	३२	**अणोग्गह**	**अणोग्गह**
,,	२	३७	मगवान् महावीर	भगवान् महावीर
६१	१	११	**अत्थम**	**अत्थमण**
६३	२	२८-२९	**'अहि'** से '२७००'	०
६८	२	१३	कप्प	राज
,,	२	१६	द्धीप	द्वीप
,,	२	३६	**अपरिच्छण**	**अपरिच्छण्ण**
६९	१	१२	**अपविद्घ**	**अपविद्ध**
,,	२	२९	**अपुण्ण**	**अपुण्ण** वि
७२	२	३७	खुल्ला	खुला
७३	२	१	**अप्पुव्व ;**	**अपुव्व ;**
,,	२	३७	१, १८	१८
७४	१	२२	**अबश** पुं	**अबस** पुं
,,	२	६	**अबुद्ध**	**अब्बुद्ध**
७५	२	१४	**दे**	**दे. अभ्रपिशाच**
७७	२	३५	**-सिद्धिय**	**-सिद्धीय**
७९	१	२४	वकृ--**अभिगिज्झंत**	अभिगिज्झंति
८०	१	३२	**-व्वगड**	**-व्वागड**
,,	२	१६-१७	**'अभि'** से **'ए'**	०
८२	२	३५	१२	११
८३	१	१२	**-हरणा** स्त्री	**-हरण** न
,,	१	१२	**-हरणा]**	**-हरण]**
,,	१	२१	नक्षत्र ;	नक्षत्र का अधिष्ठाता देव ;
८४	१	२०	पुं	वि
,,	२	१	**अमारि-**	**मारि-**
,,	२	२४	**४** न.	४
८६	२	८	मिच्या-	मिथ्या-

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८६	२	२८	२५	२६५
८९	१	६	(म)	(मा)
९०	१	३६	२	२ पुं.
९१	१	३	**अरुणोदग**	**अरुणोद**
,,	१	३	**अरुणोदक**	**अरुणोद**
,,	१	४	**[अरुणोदय]**	**[अरुणोदक]**
९२	१	२९	२	२ वि.
९३	१	११	कुण्ड,	कुंड़ा
९४	१	४	**आद्रित**	**आर्द्रित**
९५	१	२३	**अवञ्चित**	**अवाञ्चित**
,,	२	२५	**दे**	**दे. अवकीर्ण**
९७	१	२२	अवगुरणोजा	अवगुणोजा
,,	१	२२	वकृ--**अवगुणंत**	अवगुणंति
,,	२	१३	**अवचुल्ली** स्त्री	**अवचुल्ल** पुं **[अवचुल्ली] [अवचुल्ल]**
,,	२	१४	(पिंड)	(पिंडभा ३४)
९८	२	३६	१४३	१४०
१००	२	१५,१७	**अंवबुज्झ**	**अवबुज्झ**
,,	२	१६	नावबुज्झेसे	नावबुज्झसे
,,	२	३४	**अवभाषित**	**अपभाषित**
१०१	१	२६	**अपमानिस**	**अपमानित**
१०३	१	५	**अपराद्धिक**	**अपराधिक**
१०४	१	१६	व्याप्त	व्याप्त
,,	१	२०	गर्बित	गर्वित
,,	१	२५	**[अवलेप]**	पुं **[अवलेप]**
,,	२	२४	ओं को	ओं की
१०८	१	२५	**'अवालुआ'** से '(तंदु)'	०
,,	२	१०	**अविसरण**	**अविउसरण**
१०९	२	२९	**अविषादिन**	**अविषादिन्**
,,	२	३८	**अविवह**	**अविहव**
१११	१	५	न	वि
,,	१	५	२	२ पुंन.
११२	१	७	पासं	पोसं
११३	१	६	लागों	लोगों
११४	२	३६	६)	७)
११६	१	२३	**°चंन्द्र**	**°चन्द्र**
११९	१	१३	क्रवि.	क्रिवि.

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११६	१	१८	नस्सार	निस्सार
१२१	२	२६	२	२ वि.
१२५	२	३४	अहा	अहो
१२६	२	१	पुं	°रत्त पुं
१२८	१	१	१, ५	१, १५
१३०	२	३	'आउज्जण' से 'देखो'	०
,,	२	३३	ऊपर देखो ;	अपायज्ञान ;
१३३	१	३	२	२ वि.
,,	१	१३	विकड्ड	विकड्डि
,,	१	३५	आकुञ्चय्	कुञ्चय्
१३५	१	१७	-पायिन्	-पातिन्
१३६	१	२०	अजीवना	आजीवना
१३८	२	७	नव ६, पव	भग ६, ४
१३६	२	१	आप्रहण	आर्द्रहण
,,	२	१७	आदाण	आदीण
,,	२	२२	उक्कडियं	दुक्कडियं
,,	२	२२	१, ४	१, ५
,,	२	२४	आदेस	आदेस देखो
१४०	१	५	आप्रष्ट	आपृष्ट
१४१	१	३४	१, १	१
१४२	१	३६	उत्त	उत्तनि
१४४	१	१	आयतंत	आययंत
१४८	२	६	चढ़ना, ऊपर बैठना।	चढ़ाना, ऊपर बैठाना।
,,	२	१६	१, १	१
१५०	१	१५	पुं	वि
,,	१	१५	२	२ पुं.
,,	१	१८	उपधान ;	गालका उपधान ;
,,	१	३१	आलिप्त	आदीप्त
१५१	१	२५	अलोएइ ;	आलोएइ ;
,,	१	२६	आलोचित्ता	आलोइअ
,,	२	१७	आलोच्चंत	आलोचंत
१५२	१	३७	१, १ ; ५	१, ५, २
१५३	१	१७	आव-	कर्म—आव-
१५४	१	१६	४	४ वि.
१५५	१	१४	वि	न
१५८	२	३५	आशूनि	आशूनिन्

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५८	२	३६	१, ६	१, ६
१६०	१	३२	पएण १	भग ६, ४
,,	१	३७	२, २	२०, २
१६२	२	१	दे·	आधोरण
१६४	२	५	°य	°य पुं
,,	२	२८,३५	२	२ न.
१६५	१	६	लु,	चलु,
१६६	१	१६	सुचिरपि	सुचिरंपि
,,	२	४	अनु=कूल ;	अनुकूल ;
१६७	१	१	५, ४५	५, १, ६५
,,	१	२७	इह	इण्ह
१६८	१	४-५	'इदुर' से '(राय)।'	०
,,	१	३६	इर्या	ईर्या
१६६	१	२३	°दिण्ण	°दत्त, °दिण्ण
,,	१	२४	°दत्त,	०
,,	२	४	सुअ २, २	सूअ २, १
१७२	१	७	नियाग	नियोग
१७३	१	१	देखा	देखो
,,	१	३०	पुं	वि
,,	२	३०	१, १	१ टी
,,	२	३४	घाणिदिय	घाणिंदिय
१७४	१	४	हे १, १, १	हे १, १७१
,,	१	६	ऊप	उप
१७५	१	२६	दे	दे· अवकम्बन
,,	१	२८	दे	दे· अवकम्बित
,,	२	३	उक्कुड्य	उक्कुडुय
१७६	२	१८	छिन्न मूल	छिन्न-मूल
,,	२	२४	उत्+क्रमिय्	उत्+क्रामय्
१७७	१	६	चंद २	सुज २० टी
,,	१	२७	न	वि
,,	१	२७	रोदन	आक्रुष्ट
,,	२	४	वि	न
,,	२	७	३	३ न.
,,	२	२२	१, १	१ टी
१७८	१	१५	२	२ वि.
,,	१	२२	देखो	[उत्कर्षिन्] देखो
१७८	२	१२	-मडु	-मड्डा

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७८	२	१२	**-मडु-**	**-मड्डु**
,,	२	१४	२, १	१
१८०	१	२	-मिह	-मिह-
,,	१	७	२	२ पुं.
१८१	१	६	-विहाआ चगिच्छा-	-विहाओ चिगिच्छा
,,	२	८	-करवाला	करवालो
१८२	१	३७	**उदघृष्ट**	**उद्घृष्ट**
,,	२	२३	याग्य	योग्य
१८३	१	२	आसं दआण	आसंदिआण
,,	२	२६	माना जाता	माने जाते
१८४	१	३६	**उच्चय**	**उच्चय्**
१८६	२	३६	बीसत्थं	वीसत्थं
१८७	२	२४	[ ]	[**उज्जागर**]
१८८	१	२८	सट्ठुवि	सुट्ठुवि
१८६	१	३८	किरण	रस्सी
,,	२	१८	**उज्झणय**	**उज्झणया**
१६०	१	२०	३	३ पुं.
,,	२	३८	देखो	देखो
१६१	१	१४	दुआ	हुआ
,,	१	२०	भय	भयं
१६२	१	१६	३	३ वि.
,,	१	२६	°**दिक्**	°**दिश्**
,,	१	३७	वकास	विकास
,,	२	३	**बुद्धि**	**इद्धि**
,,	२	७	'उढि' से '(षड्)'	०
,,	२	२७	४	४ न.
,,	२	३२	२	२ पुंन.
१६३	१	३१	**वुत्तंत**	**वुत्तंत**
१६४	१	१५	१, १	१
,,	२	३२	२	२ वि.
१६६	१	६	मुणेयव्व	मुणेयव्वं
,,	२	१२	उपित्तणो	उत्तिणो
,,	२	१५	पडिग्ग हलायणु- त्तिसणण-	परिग्गहलायणु- त्तिणण-
१६७	२	२५	७, ६	७, ६ टी
१६७	२	२६	२	२ वि.
१६८	१	३५	व्वराहवस्स	व्व राहवस्स

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६८	२	५	चाता	जाता
१६६	१	४	**उदायण**	**उदयण**
२००	१	१३	-विशेख	-विशेष
,,	१	१८	**उद +**	**उद् +**
,,	१	३२	**उददंभ**	**उद्दंभ**
,,	२	२०	**उदद्रोतृ**	**उद्द्रोतृ**
,,	२	२४	जाणासु	जाणासु
,,	२	२६	**उदद्रवणा**	**उद्द्रवणा**
,,	२	३०	तगणो	गणो
२०१	१	५	आघ	ओघ
,,	२	७	**उददृष्टा**	**उद्दिष्टा**
,,	२	१७	१, ७	७
,,	२	२०	१, १०	१०
२०२	१	२७	१, १०	१०
२०३	१	३२	१, १०	१०
,,	२	३,६	१, १	१
,,	२	१६	णादि	णांदि
,,	२	३४	कँापना,	कँपाना
२०४	१	१,३०	**उद+**	**उद्+**
,,	२	१२	माग	भाग
,,	२	३३	पङक	पङ्क
२०५	१	२३	अक	सक
,,	२	७	**उप-**	**उप्प-**
२०६	१	१	**उप्पइत्तु**	**उप्पाइत्तु**
,,	१	२८	णाणं	णाणाणं
,,	२	७	कइ	कई
,,	२	१२	२	२ पुं.
,,	२	१३	१, ८	८
२०७	१	२५	स्थपुट-	स्थपुट,
,,	२	७	**उत्पेक्खा**	**उप्पेक्खा**
,,	२	१२	१, ६	६
,,	२	३१	उप्फिड-	उप्फि-
२०८	१	२८	**उद्वद्ध**	**उद्बद्ध**
,,	२	३५	**उद-**	**उद्-**
२०६	१	८,१३	,,	,,
,,	१	१४,२०	१, १	१
२०६	१	१६	१, ४	४

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०६	१	१७,२१,३६	**उद-**	**उद्-**
,,	१	२२	१, ६	६
,,	२	२२	३	३ न.
,,	२	२५	४	४ वि.
२१०	१	२७	३	३ देव-
,,	२	२०	पुं	वि
२११	१	३५	**उद-**	**उद्-**
२१२	१	३३	**उविय**	**उविअ**
,,	२	३०	श्रे ;	श्रेष्ठ;
२१३	२	१४	**उलंघि-**	**उल्लंघि-**
२१४	१	३१	पीडना	बजाना
,,	२	३४	**उद+**	**उद्+**
२१५	१	५	दंदेसु	दंतेसु
,,	१	१४	सक	अक
,,	२	२१	२	२ वि.
२१६	२	१३	प्रयो—उवकप्पयंति	उवकप्पंति
,,	२	१३	१, १२	१, ११
,,	२	२०	**उयवर**	**उवयर**
२१७	२	५	**उपख्या-**	**उपाख्या-**
२१८	२	६	**उपोब्दात**	**उपोद्घात**
२१६	२	२५	**उपदाहयितृ**	**उपदहितृ**
२२०	१	१	१४१	१४०
,,	१	३६	-संहृति;	-संहृत ;
,,	२	११	कया	किया
२२२	२	६-१०	'पुंन' से '-ल्लिका;'	देखो **ओअरय**
२२३	१	१३	सप्परिखे	सप्परिखो
,,	२	१६	वक्क	कवक्क
२२४	२	२५	२	२ वि.
२२५	१	८	२, १६	१, १२
,,	२	१	हटाया	समेटा
,,	२	२	सहरिया	संहरिया
२२६	१	६	२	२ पुं.
,,	१	१०	३	३ न.
,,	१	२०	१, ७	१, ६
,,	२	३५	२	२, ७
२२८	२	२६	**उव्व-**	**उव्वु-**
२२६	१	३७	**—उव्व-**	हेकृ—**उव्व-**

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३१	१	१७	वेष्टन	सक. वेष्टन
२३२	१	१६	**उद्वेध**	**उद्वेध**
२३५	१	७	"कह	"ऊ कह
,,	१	१६	२	२ न.
२३६	१	२	**-दड्ड-**	**-दड्ढ-**
,,	२	१८	**ऊससो**	**ऊसीस**
२३८	२	१४	सख्या	संख्या
२३६	२	३८	भूमि	भूमि से
२४०	१	३७	कर	कर दोनों अंचलों को
२४१	१	२२	२	२ वि.
,,	१	२४	देखा	देखो
,,	२	३७	धागे का	धागे को
२४२	१	६	(अंप)	(अप)
,,	१	३४	एरवत	ऐरवत
,,	२	३४	१४	१०, १४
२४३	१	११	**एतवात्**	**एतावत्**
२४५	१	२३	अभिभूत	अभिभूत
,,	२	२४	स	से
२४६	१	३५	**ओ**	**ओं**
२४७	२	२८,३२	देखा	देखो
२४६	२	१६	वि	पुंन
,,	२	२०	२	२ वि.
,,	२	२१	३	३ पुं.
,,	२	२२	४	४ वि.
२५०	२	२६	कस	इक
२५५	१	१२	वि	पुंन
,,	१	२२	२	२ वि.
२५६	२	३	**अपसन्न**	**अवसन्न**
२५७	२	३	पराभत	पराभूत
,,	२	१४	(से	भइ ; (से
२५८	१	२४	ओहरि-	ओहरी-
२५६	२	५-५	'निस्तेज' से 'हुआ'	घिसा हुआ
२६१	१	३४	पुं	वि
,,	२	३५	२	२ पुंन.
२६३	२	१३	नग;	नगर;
२६६	१	१२	पुं	वि

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६७	१	२७	राग-	रोग-
,,	१	३६	२	२ न.
,,	२	३	**कंबं**	**कंबं°**
२६८	१	२	कंसार	कंसारं
,,	१	३८	२	२ वि.
२६६	१	१०	(२,	(दे २,
२७०	१	३८	४	४ न.
२७१	२	१६	वि	पुं
,,	२	३२	२	२ पुंन.
२७३	२	७	४	४ वि.
२७४	१	३२	२, २, ३	२, ३, ३
,,	२	१७	पवर्तक	प्रवर्तक
२७५	१	१०	उत्तर	उत्तनि ३
२७६	२	११	प २५८	पि २५८
,,	२	२१	२	२ पुं.
२७८	१	२७	कभी	कहीं भी
,,	१	३७	२	२ वि.
,,	२	२४	१, ३, १	१, ३
,,	२	३४	सूअ	सूअनि
२७६	१	७	२	२ न.
,,	२	१३	लाना। ३	आना। ३ सक.
२८०	१	२५	**कापटिक**	**कापैटिक**
,,	२	३१	२	२ पुं.
२८२	२	२८	चार	पाँच
२८३	१	८	नर्दोष	निर्दोष
२८५	२	३	२	२ पुं.
२८६	१	३२	लाट्वा	लट्वा
,,	२	१	**करडूय** पुं	**करडुयभत्त** न
२८७	२	३६	**कारत्ताणं**	**करित्ताणं**
२८८	१	२५	२, ३	१, ३,
,,	२	१८	अनु	अणु
२८६	१	१	वि	पुं
२६१	१	३६	१, २, ३,	१, २, २,
,,	२	२२	देखो	**कलिंच** देखो
,,	२	२५	**कलिम्ब**]	**कलिंब** पुन **[कलिम्ब]**
,,	२	३३	२	२ पुं.

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६२	१	२८	पंचा ८	पंचा ६
२६३	१	१६	**डकवा**	**कवाड**
,,	२	७	७	७ वि.
२६५	१	५	**[°काश्यप]**	**[काश्यप]**
२६८	१	१६	४	४ वि.
२६६	२	२६	२०	६०
,,	२	३१	३६	२६
३०१	२	६	अक्षर-ज्ञान	देरी से अक्षर जानने
,,	२	७	शिक्षित	अ-शिक्षित
,,	२	१५, १६	उत्त २	ती ७
,,	२	३८	ती ६	ती ७
३०६	२	६	**कृष्टयु-**	**कृष्ट्यु**
,,	२	१७	खोलना	खेलना
३११	१	८	३	३ वि.
,,	१	३८	भीम	को भीम
३१२	१	३३	**दष्टिक**	**°द्वष्टिक**
,,	२	२३	(सम)	(सम्म १)
३१३	२	२१	२	२ वि.
३१४	१	१	दे	**कुटभी**
३१५	२	१८	५;	५, १
३१६	१	१६	५,	५, १,
३१६	१	८	न	स्त्रीन
,,	२	१२	]	**कूबर** पुं **[कूबर]**
,,	२	१३	२७	२६
३२१	१	६	१६	१४
,,	२	३८	वि	पुंन
३२२	१	१२	२	२ पुं.
३२३	२	२४	अणु	अणु—टी
३२४	१	३५	दस ७	दसनि १
,,	२	१४	अश्व	अश्व के
,,	२	१७	६, २	६, ३
,,	२	३८	३६, का	३६, ६६ का
३२५	१	८	७३ ;	७३ टी;
,,	१	६	**कुहट्टका**	**कुहेट्टका**
,,	१	२६	१, ५, १;	१, ५, २;
३२६	२	२	लेने	लाने

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२८	१	१०	२	२ पुं.
,,	१	११	३	३ पुंन.
,,	२	१०	२	२ पुं.
३२९	१	३२	दे ४,	हे ४,
,,	२	९	४८	४९
,,	२	३६	**अणु**	**अणु**—टी
३३०	२	३३	**कोट्टग**	**कोट्टाग**
३३१	१	१२	पा	विपा
३३३	१	२३	कोत्तिक	कार्त्तिक
३३४	१	२७	'वार्धक्य' से '(पिंड)। २'	०
,,	१	३८	(आव ३)	(पिंड ४२७)
३३५	२	१८	शिशेष	विशेष
३३७	२	२८	२	२ पुंन.
,,	२	३५	ती ५	ती २
३३८	२	८	मिस्त्री	मिस्त्री
३३९	१	३०,३३	**दे**	**दे. स्कन्धयष्टि**
,,	२	१	**स्कन्धमत्**	**स्कन्धवत्**
,,	२	१३	**स्तम्भनिगडित**	**स्तम्भित**
,,	२	२६	**खड्गिन्**	**खड्गिन्**
३४२	१	३६	-क्खेधं	-क्खेवं
,,	१	३७	२	२ वि.
,,	२	३१	२	२ पुं.
३४३	१	११	खरंडए	खरंटए
,,	२	१३	खोलक्खलेइ	खलक्खलेइ
,,	२	३२	**खलिण**	**खलिण** पुंन
३४४	१	२५	२	२ न.
,,	१	३०	३	३ वि.
,,	२	१९	३	३ वि.
३४६	१	२४	संस्कृत्त	संस्कृत
,,	२	३	**क्षरित**	क्षारित
३४७	१	७	करना	कारना
,,	१	२४	क्रया	क्रिया
३४८	१	१९	२ वि.	२ न.
३४९	१	२४	त्रुटित	त्रुटित
,,	२	३०	**कृत्वस्**	**°कृत्वस्**
,,	२	३६	**क्षब्ध**	**क्षुब्ध**

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३५०	१	१३	**क्षभित**	**क्षुभित**
,,	२	९	एक वृत्त;	वृत्त;
३५१	१	३०	१८४	१७४
३५३	१	८	**बस्त्र**	**वस्त्र**
३५५	१	१९	राम	रोम
३५६	१	१६	**गंडअ**	**गंडुअ**
,,	२	३३	**°मत्**	**°वत्**
,,	२	३७	२	२ पुंन.
,,	२	३८	३	३ न.
३५७	१	२६	दिखाता	दीखता
,,	२	४	३	३ न.
३५८	१	२१	२६	२७
,,	२	१	समाचारी	सामाचारी
३५९	१	१४	**डु**	**गडु**
३६०	२	३	**गत्ताडी**	**गत्तडी**
,,	२	३	वनस्पति-विशेष	गोचर-भूमि
३६२	२	१	वनस्पति, विशेष-	वनस्पति-विशेष,
३६३	२	६	**ध्वज**	**ध्वज**
३६४	१	१२	चिय	चिय
,,	१	१६	फका	फेंका
,,	१	३४	**गडुची**	**गुडूची**
,,	२	२३	'इन्द्र'- से 'विशेष'	गोचर-भूमि
३६५	२	२३	प्राप्र; पाअ)।	प्राप्र)।
,,	२	३२	५	५ वि.
,,	२	३२	६	६ न.
,,	२	३३	८	८ वि.
,,	२	३४	९	९ न.
३६६	१	१५	पुं	वि
,,	१	१६	२	२ पुं.
३६७	१	३	'वन-' से '-वारुणी'	गोचर-भूमि
३६९	१	१८	सूअ	सूअनि
,,	२	७	उपादाम	उपादान
३७१	१	१५	घुड्गची	घुड्गची
,,	१	१६	**गुजालिया**	**गुंजालिया**
,,	२	११	[**ग्रन्थन**]रूँथना,	[**ग्रन्थन**] गूँथना,
,,	२	२७	**गुम्फ्**	**गुम्फ**
३७५	२	१	**गठुअ**	**गेंडुअ**

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३७७	२	१७	**गोट्ठल्लग**	**गोट्टिल्लग**
३८०	१	१०	**गवअ**	**गोवअ**
,,	१	३०	नक्षत्र-	गोत्र-
,,	२	३२	**गोसण्ण**	**गोसण्ण** वि
३८१	२	२	अनु	**अणु**
३८२	१	१६	सुर	सुर १६,
,,	२	१३	हिलना	हिलाना
३८४	१	२	१, ७, ६;	२, ७, ६;
,,	२	१६	दखाने	दिखाने
,,	२	३५	**दे**	**दे. गृहिणी**
३८६	२	६	**घिं**	**घिं°**
,,	२	१८	**घिप्पं**	**घिप्प°**
३८७	१	१६	वक्र—	वक्र—**घुन्नंत**
,,	२	२१	हे २,	दे २,
,,	२	२५	विशेष	विशेष, ग्राम-
३९०	१	६	२	२ पुंन.
,,	२	२१	स्त्री	न
३९३	१	४	सूअ १, ७	सूअनि ९०
,,	२	७	[°पुरा]	[°पुरी]
३९६	१	२	चक्रवर्त्ती	चक्रवर्त्ती
,,	२	१८	२	२ पुं.
३९८	१	२५	दस	दसनि
३९९	१	१४	२	२ त्रि.
,,	२	३५	-चमक्कार-	-चमुक्कार-
४०१	२	३७	२	२ वि.
४०२	१	२२	चावल, तण्डुल;	अन्नवि०, बोड़ा;
४०७	१	१७	चिल्ला, हट	चिल्लाहट,
४०८	१	३६	ाया	ाया
,,	२	१९	**वित्तट्ठिअ**	**वित्तठिअ**
,,	२	२७	२	२ पुं.
४०९	१	११-१२	**'चिप्पिण'** से '५, ७)।'	०
४११	२	१४	क्षुद्र	क्षुद्र
४१३	१	३८	विमान का अवतंस-	सौधर्म विमान-
४१९	१	१३	३	३ वि.
४२१	२	६	**दे**	**दे. छात**
४२२	१	१७	**छिम्पक**	**छिम्पक**

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४२३	१	२१	षड्; उत्त २७)।	षड्)।
,,	१	३२	अजि ५	लहुअ ५
४२४	१	३	**छेबट्ठ**	**छेवट्ठ**
४२६	१	७	दस	दसनि
,,	१	१२	[**छेत्त**]	[**छेत्तृ**]
,,	१	३०	चीत्कार करना,	नाक छींकने का शब्द,
४२७	२	३१, ३२	**जउँ-**	**जँउ-**
४२८	१	१५	**जाङ्गलि**	**जाङ्गुलि**
,,	१	२२	**जघा**	**जंघा**
४२९	१	१६	२	२ न.
,,	२	३३	२०	१९
४३०	१	१९	दिखाता	दीखता
४३२	१	१	**जाडअ**	**जडिअ**
,,	१	१२	**दे**	**जटिलक**
४३७	१	१०	२	२ पुं.
४३९	१	२८	२	२ पुं.
४४२	२	१९	वि	°**भूअ** वि
,,	२	२२	२२	१२
,,	२	३८	पयहसू २, ४; अ	पयह २, ४; सूअ
४४३	१	३२	२, ३	२, १५
४४४	१	३७	°**प्प** पुं	°**प्प** वि
,,	२	३५	**ज्येष्ठ**	**ज्यैष्ठ**
४४६	१	२७	पंचा ४	पंचा ३
४४७	१	२९	३	३ पुं.
४४८	२	३७	एका	एक
४५०	२	१०	**दे**	**यूपक**
४५१	२	१९, २२	देखो **एव**	(शौ) देखो **एव**
,,	२	३४	६, १, १३	६, १३
४५२	२	१५	चंद १	सुज २०; १८
४५४	१	३६	देखो	(शौ) देखो
४५५	१	५	२, २, २	२, २
,,	१	३४	**झखंत**	**झखंत**
४५६	१	१३	तंदु	णंदि
४५८	१	३७	**झडुअ**	**झेंडुअ**
४५९	१	४	**ंक**	**टंक**
४६०	१	२३	स्तम्भ	स्तम्भ'

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४६०	१	२४	स्तम्भ्	स्तम्भ
४६४	१	३६	उत्+लंघ्	डिप्
,,	१	३८	उल्लङ्घन	डेपन
,,	२	१३	जघन्य मनुष्य-जाति;	मनुष्य-जाति, ब्राह्मण;
४६६	१	१७	ढिक्क	ढिक्क
,,	१	२२	स्त्री	वि
,,	२	१८	ढढोल्ल	ढोल्ल
४६८	२	१६	[°वृद्घ]	[°वृद्ध]
४७०	२	३२	२	२ पुंन.
४७४	१	१५	णलिणिं	णलिणि°
४७५	२	१०	[दे]	नखहरणी
४८०	१	३०	णिअठ	णिअंठ
,,	२	३७	धर्म। १	धर्म २)।
४८३	१	३८	नाद्र	निद्रा
४८४	१	३८	निकालने वला;	निकलने वाला;
,,	२	३७	कवक्—णिक्कसि-ज्जंत;	कर्म—णिक्कसि-जइ;
,,	२	३८	सूअ १, १४	राज
४८५	२	३८	पर्वत-विशेष;	भूमि-खंड;
४८६	१	१६	णिच्छुब्भित्ता	णिच्छुभित्ता
,,	१	१५	कना।	करना।
४६१	१	१५	णिट्टुअ	णिट्टुइअ
,,	१	३७	नि १)। °कहा स्त्रीचू	निचू १)। °कहा स्त्री
४६२	२	१३	णत्तिर ड	णित्तिरडि
४६३	१	१०	व	वि
४६४	१	२८	२	२ वि.
४६५	१	११	१. ६	१, ५
४६८	१	२५	आख	आँख
४६६	२	५	३४	३५
५००	१	१३	णिरणासाइ;	णिरणासइ;
,,	१	३८-३६	'३ नरक' से 'पयह १, १)।'	०
,,	२	३४	निरवसेस	निरवशेष
५०१	१	२२	करिमों;	करिमो;
,,	१	२४	प्रतिषेध	प्रतिषेध; (पंचा १७)

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५०२	२	२५	१; ३	१, ३०
५०६	२	५	साधुओं को	साधुओं का
,,	२	१५	ा १२	आ १२
,,	२	१६	सुज २	सुज १, १
,,	२	२१	निवृद्घि	निवृद्धि
५०७	१	१६	णिव्वक्कल	णिवक्कल
५०६	१	१५	२	२ न.
,,	१	२४	निःसशय;	निःसंशय;
,,	२	१४	णिव्विलंबक्कि वि	णिव्विलंब क्रिवि
५१०	१	२	निश्चिन्तन्ता	निश्चिन्तता
५१२	२	३७	निवसेइ	निसेवइ,
५१३	१	२१	२, ४ १	२, १६, ६
५१४	१	२	निःसिङ्घित	निःशिङ्घित
,,	१	६	णिस्सिंचिय;	णिस्सिंचिया;
,,	२	८	२	२ पुं.
५१५	२	२६	२	२ वि.
५१६	१	१६	नीचस्	नीचैस्
,,	१	२७	सारभंडणि	सारभंडाणि
,,	२	१६	दे	दे नीरङ्गी
५१६	१	२२	कड्डिया	कड्ढिया
,,	२	१८	छादन	दे
५२०	१	३०	धान्य का	धान्य आदि का थोकबन्द
५२१	१	३२	णेसज्ज वि [नैषद्य]	णेसज्जि वि [नैषद्यिम्]
५२६	१	२५-२६	'°नाह' से '१५६)।'	०
५३०	२	२	णांदि	णांदि—टी
,,	२	३८	तपय्	तापय्
५३२	२	१४	गुणाकर	गुणाकार
,,	२	१६	क ड्	का पेड़ ;
,,	२	२०	[कना का	] कान का
५३३	१	२६	राज-	एक राज-
५३४	२	२६	तवँहिं	तावँहिं
५३५	१	२६	तीन,	तीन
,,	२	३१	त्रमासिकी	त्रैमासिकी
५३६	२	१४	२	२ पुं.
५३७	२	३१	दे	त्रिस्

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५४१	२	८	२	२ न.
५४३	२	१६	२, १	१, ५ टी
,,	२	२०	१, ५, १	१, ५, १ टी
,,	२	२५	**तुर**	**तुर°**
५४६	२	११	चिचित्सा	चिकित्सा
,,	२	३५	**णयते**	**तेणय**
५४६	१	२	**त्थअ**	**°त्थअ**
५५०	१	४	२	२ वि.
५५१	२	३६	**ठाण**	**स्थान**
५५३	१	३०	धोड़ा	थोड़ा
५५४	१	२२,२६	**दे**	**दे. स्थविरासन**
५५५	१	३३	८	८ पुं.
,,	२	३५	**°दंडि**	**दंडि°**
५५६	१	२२	**°प्पहावण**	**°पहोयण**
,,	१	२६	**दे**	**दे. दन्तपवन**
५५६	१	१३	पुर्व	पूर्व
,,	१	१४	डत्पन्न	उत्पन्न
,,	१	३३	दिणा	दिएणा
,,	२	१०	दर्दर	दर्दुर
५६२	१	१४	सूअ १, १	सूअनि १०८
५६४	२	२२	दाढ़ी	दाढ़ा
५६५	१	१३	**दे**	**दामन**
५६६	१	३४	**दे**	**दामन**
५७१	१	७	सुअ	सूअ
५७२	१	१६	दीर्थ	दीर्घ
,,	२	२६	**द्वयणुक**	**द्वयणुक**
५७४	१	३	**दुःक्खाय्**	**दुःखाय्**
,,	१	१५	वरांगना	वाराङ्गना
५७५	२	२५	**दुच्चरिअ**	**दुच्चरिअ**
५७६	२	२४	भग ७, ६	राज
५७८	प्रथम कोलम के आरम्भ की चार लाइनें उसी पेज के दूसरे कोलम के अन्त में पढ़ो ।			
५७६	२	२६	२०	२१
५८०	१	२६	२	२ वि.
,,	१	२६	**°सह**	**°सह** पुंन
५८२	२	११	२	२ न.
५८३	२	३६	२	२ न.

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५८४	१	२६	दसनि २	दस ६, २
५८४	२	२३	१६	१७
५८६	१	२६	वकृ	कवकृ—
,,	२	१३	**आणाती**	**आणात्ती**
५८८	२	१४	यएजा'	वएजा'
५८६	१	१३	वही **अर्थ**;	नीचे देखो;
,,	१	३५	देखो **°पडिक्खोभ**;	पुं [**°परिक्षोभ**] कृष्णा-राजि;
५६०	१	१०	**°रण्ण**	**°रन्न**
,,	१	२८	**देवकिल्बि-**	**देवकिल्बि-**
,,	२	१३	पार्धती	पार्वती
५६१	१	२८	**द्वषिन्**	**द्वेषिन्**
,,	२	१६	२	२ पुं.
५६२	२	३०	सूर	सुर
५६४	१	१६	१२)।	११)।
५६६	२	१७	जसमें	जिसमें
५६७	१	३७	**पण्णत्ति**	**पण्णत्ति**
६००	१	३१	**भ्राड्**	**भ्राट्**
,,	१	३२	सूअ १, ४, २	सूअनि ७०
,,	१	३४	**भ्राडन**	**भ्राटन**
६०३	१	१६	**धूनन**	**धूनना**
,,	२	३६	१, ४, १	१, २, १
६०५	२	६	धुरन्धर	धुरन्धर
६०७	२	२०	पंचा ८	पंचा ७
६०८	१	१४	**पइदिद्ध** वि [**प्रतिदिग्ध**]	**पइद्धिय** वि [**प्रदिग्ध**]
६१०	१	६	८	८ पुं.
,,	२	२६	सूभूमि-राज	सुभूमराज
६११	२	३२	**प्राक्**	**प्रगे**
६१२	२	२६	**पओप्पय**	**पओप्पिय**
६१३	१	१५	३	३ पुंन.
६१४	१	२६	[**°वष**]	[**°वर्ष**]
६१५	१	११	२	२ पुं.
६२१	१	६	२	२ वि.
,,	२	२	पुं	वि
,,	२	६	पगिब्भ	पगब्भि
६२२	१	२०	२६)	२, २६)

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६२४	१	२१	**प्रत्यत्थिन्**	**प्रत्यर्थिन्**
६२६	१	३७	**प्रत्यव+त**	**प्रत्यव+तृ**
६२७	१	१५	२	२ वि.
,,	२	२८	सुप्पच्छणाए	सुप्पच्छदणाए
६२८	१	२६	पयाइंतीए	पयाइं तीए
६३०	२	२१	पीता	पिता
,,	२	२३	भिउडी णं	भिउडी णा
६३४	२	१	**अनुव्रजित**	**अनुव्रजिन्**
६३८	१	११	**[त्येषणा]**	**[प्रत्येषणा]**
६४३	२	१	कीट-धिशेष-	कीट-विशेष
६४६	१	१८	२, ३०	२, ३१
,,	२	१६	हंस्त-सूत्र	हस्त-सूत्र
६४७	१	४	परिसारीअदि	पडिसारीअदि
,,	१	२०	**पडिसाहरणा**	**पडिसाहरण**
,,	१	३२	'१' से 'परदा;'	शिरोवेष्टन, पगड़ी;
६५५	१	३६	२, ५, १, ६	२, ५, १, ७
६५८	२	३८	**पदाण**	**पदाण न**
६६०	२	२३	पप्पोत्ति	पप्पोति
६६१	१	६	**पप्पोत्ति**	**पप्पोति**
,,	२	२८	**प्रबोहय**	**पबोहय**
६६५	१	११	**प्रमीत**	**प्रमित**
६७७	२	२६	परिअंतइ	परिअत्तइ
६७६	२	२६	**परक्रीडितृ**	**परिक्रीडितृ**
६८१	२	३७	२, १०,	२, १,
६८४	१	१५	ताणंपरि-	ताणं परि-
,,	२	१६	**परिणामिक**	**पारिणामिक**
६८८	१	१४	**परिपूणक**	**परिपूर्णक**
६६३	२	३२	**परिवड्डमाण**	**परिवड्ढेमाण**
६६७	२	६	**परिसाइयाण**	**परिसावियाण**
७०१	२	१२	६ न.	६ पुंन.
७०६	२	३	करना।	खुशी करना।
७११	१	२३	**[प्रवत]**	**[प्रवृत]**
७२०	१	२६	माउया एदुद्धं	माउयाए दुद्धं
७२२	१	६	प्राकृत्त	प्राकृत
७२७	१	२४	देखो **पागड**	देखो **पागय**
७३१	१	४	**पालित्तिअ**	**पालित्तिआ**
,,	१	१४	**पावत**	**पावेंत**

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७३१	२	२	वहन;	वह्नि;
७३२	१	१	२ माटो	२ मोटा
,,	२	२	५	५ पुंन.
७३४	१	२७	२	२ वि.
,,	२	६	**°भासिन्**	**°भाषिन्**
७३५	२	४	**पिंड**	**°पिंड**
७३८	२	३२	सूर्यो	सूर्यो
७४०	१	११	रोग-	अंग
,,	१	११	ताप-तिल्ली;	तिल्ली;
,,	१	२८	छोटा पक्षी	छोटे पक्षी के तुल्य
७४२	१	१५	**पीठिका**	**पीठिका**
,,	२	३६	पुं	वि
,,	२	३७	३	३ पुं.
७४३	२	६	५	५ पुंन.
७४४	२	२२	४	४ वि.
७४५	१	२५	**प्रच्छा**	**पृच्छा**
,,	१	२६	**प्रष्ट**	**पृष्ट**
७४६	१	१२	द्वय,	द्वय,
,,	२	२५	**पुथि-**	**पृथि-**
,,	२	२७	**पृथवी-**	**पृथिवी-**
७४७	१	२४	णीसेहेहिँ	णीसहेहिँ
७४८	२	२७	३	३ न.
,,	२	३८	ए	एक
७५१	२	१८	**°पुंडरोअ**	**°पुंडरीअ**
७५३	१	१०	**[°कणड]**	**[°काण्ड]**
७५४	१	६	**[°ल्ल]**	**[°ाल्ल]**
,,	१	१२	पूर्व-	पूर्व-
७५५	२	३४	**°रह**	**°रह** पुं
७५६	१	१७	**पूय**	**बूइय**
७५८	२	३३	६, ६	६, ७
७५६	१	१७, १८	६, ६	६, ७
७६०	२	५,	त	न
७६३	२	३	५८	२८
७६४	१	१४	कप्पू	कप्पू
,,	२	३७	दड्ढा	दड्ढा
७६५	१	२	दढ्ढा	दड्ढा
,,	१	५	भवि	भवि

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७६८	२	३	[द्ध स्पर्धा]	[स्पर्धा]
,,	२	२०	स्पश्	स्पृश्
७७०	१	७	किरं चित्तलं च बोगिम्मील्लं	किम्मीरं चित्तलं च बोगिल्लं
७७६	२	२७	°सिरि	°सिरी
७७७	१	२६	°दीपिका	°द्वीपिका
,,	२	२२	बंभणिका] हलाहल,	ब्राह्मणिका]
			जहर;	कीट-विशेष;
७८०	१	१६	चने के	चने की
७८४	१	३४	°वियण	°वियण, °वीयण
,,	१	३५	बालवी (ि वि) अणी"	बालवीअणी"
७८५	२	३८	भ्र का	भ्रू का
७८६	२	३५	२	२ न.
७८८	१	१४	हुडुक्कासंबुक्का-	हुडुक्काबुक्कासंबुक्क-
७६०	१	१३	दे ६,	दे ७,
७६२	१	८	देखो भूइ	देखो भुइ
७६८	१	२२	कप्प	कप्पू
८००	१	७, १०	चक्रवर्ती	चक्रवर्ती
,,	२	६	२	२ न.
८०३	१	१३	भागवय	भागवय
८०४	१	६	परिणाम-	परिमाण-
८०६	२	२	भोमभोसणाया"	भीमभीसणाया"
,,	२	१०	मृति;	भृति;
८०८	१	२६	[भित्तक]	[दे. भित्तक]
,,	२	३१	भिलिंगात	भिलिंगावंत
८०६	१	२०	भिसज्	भिषज्
,,	१	३३	भिसणेमि	भिसिणेमि
८१८	१	२७	मलिनण	मलिनन
८१६	१	२६	'२ संवेष्टित' से '(पाअ)'	०
८२०	१	२	इ-देष्टव-	इष्ट-देव-
८२२	२	२२	ममंतसिद्धो"	मंतसिद्धो"
८२४	१	२५	भंदोशण	मंदोशण
८२५	१	१६	१३;	१४;
८२७	२	२३	२	२ पुं.
८३०	१	२७	मनिणगागृह	मणिनागगृह
८३६	१	३३	ऐरावत	ऐरवत

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८३७	१	४	मलयज	मालय
८४१	२	१३	राजर्षि	राजर्षि
८४६	१	१०	औषधि-	ओषधि-
८५०	१	२०	देश	देश-विशेष
,,	२	२६	'ही'	'ही ँ'
८५३	२	१३	माहलिंग	माहुलिंग
८६६	१	२	२	२ पुंन.
८६६	१	२२	मयूरक	मायूरक
८७२	१	२३	'राढवुं'	'रांढवुं'
८७७	२	३१	राजा;	एक राजा;
८७८	२	३४	२	२ पुं.
८८०	१	१७	ज्थेष्ठ	ज्येष्ठ
८८४	२	२०	नृत्य;	नाट्य;
८६२	२	२०	२	२ पुं.
८६४	१	८	१ देवलोक,	१ एक देवलोक,
८६५	२	५	सम	सक
,,	२	११	असं-बद्ध;	अ-संबद्ध;
८६६	२	३०	दस ७, ३४	०
६००	२	२४	२	२ स्त्रीन.
६०७	२	१०	ह°त्थ	°हत्थ
,,	२	१५	चार;	चोर;
६१३	१	३७	बंदणा	वंदणा
६१५	२	३५	३	३ पुं.
६१६	१	६	वि	पुं
,,	२	३८	च्छ	वच्छ
६१६	२	५	'°वेयड्ड' से '(ठा १०)'	ऊपर के 'वट्ट' में पढो।
६२०	१	१६	२	२ पुंन.
६२४	२	८	८४	८५
,,	२	१०	२	२ वि.
,,	२	१०	३	३ पुं.
६२६	१	१५	४	४ पुं.
,,	१	१८	७	७ न.
६२७	१	२६	२ पुं.	२
६३०	२	२६	२	२ वि.
६३२	१	२८	वलय-	वलाय-
६३७	१	१७	उज्झमाण	वुज्झमाण

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९३८	१	३०	३७	३९
९४०	२	३६	रथ्या,	रथ्या,
९४३	२	३	वही अर्थ;	कृष्णराजि;
९४५	२	५	निज्झायइ वाराओ	निज्झायइ वाराओ
,,	२	११	२ न.	२ वि.
९४६	२	११	°व्यजनी	°वीजनी
९४७	१	५	वालिधान	वालधान
९४८	१	३३	वावोवणय	वावोणय
,,	२	२२	वही;	शयन-गृह;
९५१	१	२०	ऊर्ध्वता;	ऊर्ध्वता;
९५३	२	२	८	२
९५४	१	२७	पामा;	बिवाँई;
९५५	१	७	२	२ वि.
,,	१	२२	वितारित	विचारित
,,	२	४	९१	९०
९५८	१	३३	विओसिज्ज;	विओसिज्जा;
९५९	२	३	विटलिअ	विंटलिअ
,,	२	५	पउजंति	पउंजंति
,,	२	१३	व्यन्तर	व्यन्तर
९६४	१	१२	यिगिच-	विगिच-
,,	२	२६	बिग्गुत्त	विग्गुत्त
,,	२	२५, ३६	बिशेष	विशेष
९६६	२	१६	छिद्	छिद्
९६८	१	१६	°पुरो	°पुरी
,,	१	२९	आठर्वी	आठवीं
,,	२	२९	विजेट्ठा कणिट्ठा	विजेट्ठा कणिट्ठा
९६९	१	२०	२	२ वि.
,,	२	१८	एक	एक २
९७०	१	२७	स्त्री	वि
९७१	१	१४	किय	किया
,,	१	३७	विट्ठि	वृष्टि
,,	२	११	३७	९७
९७२	१	१५	वि	स्त्री
९७३	२	१८	वि	न
९७६	१	३१	विनोदित-	विनोद-
९७८	१	२६	पुं	वि
९८५	२	२९	विप्फारस	विप्फरिस

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९८६	१	३	विफुरइ	विप्फुरइ
,,	१	६	बिस्फुरण	विस्फुरण
९९५	२	१४	दे	हे
,,	२	२८	२	२ वि.
९९६	२	३५	विलुप्पंमाण	विलुप्पमाण
९९८	१	२१	विवक्ख	विवक्क
,,	२	३६	विवद्ध	विवृद्ध
९९९	२	१९	विवरीही	विवरीरी
,,	२	२२	"जाव	"जाव
१०००	१	२७	जब्बानी	जब्बानी
,,	२	१८	वन, (जंगल;	वन, जंगल; (
१००१	१	२०	व्यतिकान्त	व्यतिक्रान्त
,,	१	२२	विवाह	विवोह
,,	२	३	[°न्न]	[°न्न]
१००३	२	६	देखो विसन्न	देखो विस-न्न
१००४	१	८	वि	पुंन
,,	१	१९	वि+सृजू	वि+सृज्
१००५	१	३७	पं	पुं
१०१०	१	३८	राज	राजा
१०११	२	२६	विहारिज्जमाण	विहाविज्जमाण
१०१९	१	५	अश्व की	अश्व की एक
१०२०	१	१८	वेदग्ध्य	वैदग्ध्य
,,	२	२५	विदरण	विदारण
,,	२	२८	दे १,	हे १,
,,	२	३०	वआलिय	वेआलिय
,,	२	३८	वआली	वेआली
१०२७	१	१	वेसक्खिअ	वेसक्खिज्ज
,,	१	३	७२	७५
१०२८	२	२४	बोक्काण	-वोक्काण
१०३०	२	२३	९१	८१
१०३१	२	२९	वुं	पुं
१०३७	२	३	सकिअ;	संकिअ;
,,	२	२५	वेताढ्य	वैताढ्य
१०३८	२	२३	णिुवष्	विष्णु;
,,	२	३७	ममुद्र	समुद्र
१०३९	१	६	-प्रणीत	-प्रणीत दर्शन;
,,	१	२४	संखद्दह	संखद्रह

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०४०	२	३	विवे	विसे
,,	२	२०	सगच्छह	संगच्छह
१०४२	१	३०	सम्ह	समूह
१०४३	१	२४	**दे**	**शिङ्घानक**
१०४४	२	१७	**सचोइय**	**संचोइय**
१०४६	१	३१	१ जाड़ना,	१ जोड़ना,
,,	२	१४	२	२ पुं.
१०५३	१	२६	सधुमइ;	संधुमइ;
,,	२	५	सनवेइ;	संनवेइ;
,,	२	७	सनाह;	संनाह;
,,	२	२६	सजोग;	संजोग;
१०५६	२	३३	**सपरिक्ख**	**संपरिक्ख**
१०५७	१	१	**संपरिपृत**	**संपरिवृत**
,,	१	८	जा	जो
१०५६	१	१६	**संप्रष**	**संप्रेष**
१०६०	२	३२	पइन्न	पइन्नं
१०६१	१	४	अवसपिणी	अवसर्पिणी
१०६२	१	१८	**सभोअ**	**संभोअ**
,,	१	३६	**संमाजित**	**संमार्जित**
,,	२	३८	**संमाल**	**संमील**
१०६४	२	१६	**सवट्टय**	**संवट्टय**
१०६८	२	१७	**सं+सिच्**	**सं+सिच्**
,,	२	३८	८४)। १, ७,	१, ७, ८)। ४
१०७४	२	२	२	२ पुंन.
१०७७	१	३६	**°ावास;**	**°ावीस;**
,,	१	३७	**°ासाइ**	**°ासीइ**
,,	१	३८	**°ासाइम**	**°ासीइम**
,,	२	८	**स-तम**	**स-त्तम**
१०७८	१	१६	**सत्तुंजय**	**सत्तुंजय** पुं
१०८१	१	११	**सभट**	**सभर**
,,	१	२६	२	२ वि.
,,	१	३३	**सवलीकरण**	**सबलीकरण**
,,	२	३५	३	३ स.
१०८४	२	१३	कृ—**समप्पिउं;**	हेकृ—**समप्पिउं;**
१०८५	२	२	**न**	वि
१०८६	१	१७	**समसीसिअ**	**समसीसिआ**
१०६०	१	२१	चित्त का	चित्त की

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०६१	१	१६	आदि, वस्तु;	आदि वस्तु;
१०६५	२	१५	**समुदभूत**	**समुद्भूत**
१०६८	१	२३	६	६ न.
१०६६	१	२७	३	३ पुं.
११००	१	१६	स्वयंमू-	स्वयंभू-
११०४	२	१८	वही;	समुद्र;
,,	२	२२	दिक्षा-	दिशा-
११०६	२	२६	वि	पुं
,,	२	३७	**°ट्टसिद्ध**	**°ठ्ठसिद्ध**
११०७	२	३४	-व्ययेक्ष	-व्यपेक्ष
११०८	२	११	(पउम ६, ६१)।	ऊपर की पंक्ति में पढो;
१११०	१	१८	२	२ पुं.
,,	२	२०	**सह**=सह	**सह**=सह
१११६	१	३३	हेखो	देखो
,,	१	३५	संबाध	संबोध
,,	२	८	३	३ पुं.
१११७	१	१५	-सूयाहिकं	-सूयादिकं
,,	२	३१	ककृ—	कवकृ—
१११८	२	२६	१६—पत्र	१६;
११२५	१	१	जो	जो
,,	१	२४	७	७ पुंन.
११२६	२	२	४	४ न.
११२७	२	३०	३	३ पुं.
,,	२	३३	२	२ पुं.
११२८	१	३२	नपुर	नूपुर;
,,	२	२४	**°देवकूड**	**°देवीकूड**
११३०	१	१८	वणा	वर्णो
११३३	१	३३	अनेक	अमुक
११३७	२	३०	अवसर्पिणी	उत्सर्पिणी
११४२	१	१७	एक	एक २
,,	२	१६	,,	,,
११४३	१	१३	अथ	अर्थो
११४४	१	३१	४	४ स्त्री.
११४५	२	१८	शुभा	शुम्भा
,,	२	२८	**सुंसु-**	**सुसु-**
११५३	१	२६	५	५ पुं.

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११६०	१	१०	खङ्गपुरी	खड्गपुरी
११६२	२	११	पुं	वि
११६४	१	६	**शश्रूषणा**	**शुश्रूषणा**
,,	१	१६	(कुभा)	(कुमा)
११६६	२	५	सूक्कं	सुक्कं
११७०	२	१२	**सणिआ**	**सेणिआ**
,,	२	२१	**सत्तुंज**	**सेत्तुंज**
११७१	१	१५	निमित	निर्मित
११७२	१	६	२	२ पुं.
,,	१	१०	पक	पङ्क
११७३	२	३१	शाक	शोक
११७५	१	१७	१ शोभाने	१ शोभने
,,	१	३०	दैखो	देखो
,,	२	२२	-स्वाभी	-स्वामी
११७६	२	३८	वि. २	२ वि.
११७७	१	३६	कम—	कर्म—
११८६	१	३	हँसने कि	हँसने की
११६३	२	१६	**हिडोलण**	**हिंडोलण**
११६४	१	३१	जिन	प्रथम जिन
११६६	२	१८	**णादि**	**णांदि**
१२००	१	२१	**अंक इंदु**	**अंक-इंदु**
१२०१	२	३४	खंटी	खूँटो
१२०२	१	१	विरत-	विरक्त-
१२०५	१	६	?	१
,,	२	१३	**अनुवतक**	**अनुवतक**
१२०७	२	२१	वाल	वाला
,,	२	३८	सुम्दर	सुन्दर
१२०८	१	३४	कर के	करने के
१२११	२	३८	मनि;	मुनि;
१२१३	१	६	**आकोश**	**आक्रोश**
,,	१	१२	**आएसिय**	**आएसिय**
,,	२	१०	वि	वि
१२२०	१	३१	**उज्जढ**	**उज्जूढ**
,,	२	२४	क ना।	करना।
१२२२	१	६	**उत्+क्षभ्**	**उत्+क्षुभ्**
,,	२	३५	**उल्लन**	**उल्लून**
१२२४	१	१८	-लक्खंर	-लक्खं र-
,,	२	१	**उवसंहरिउ**	**उवसंहरिउं**
१२२५	१	१६	उव्विव्वइ	उव्विव्वइ

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२२६	२	१२	**ओक्खमाण**	**ओक्खमाण (शौ)**
,,	२	२३	**ओघययण**	**ओघाययण**
१२२६	२	२५	उद्बेग;	उद्वेग;
१२३०	१	१६	**कणलोचन**	**कर्णलोचन**
१२३१	२	८	जाति है	जाति;
१२३३	१	३७	**कंडल**	**कुंडल**
,,	२	५	एक सौं	एक सौ
१२३५	१	३३	उपर	ऊपर
,,	२	८	चड	चंड
१२३६	२	१५	पाँचवी	पाँचवीं
१२४०	१	७	तं दु३२	तंदु ३२
,,	२	३३	क्षा-रभूमि;	क्षार-भूमि;
१२४३	२	१८	खराव	खराब
१२४५	२	२३	जैन-रव,	जन-रव,
,,	२	३२	सम्नत्त	सम्मत्त
१२४६	१	१४	पुन	पुंन
,,	२	१६	जायइअ-	जायइ अ-
१२४७	२	६	अथ;	अर्थ;
१२४८	२	४	स्त्रीं	स्त्री
,,	२	३४	चित्त-	चित्र-
१२४६	१	२७	'ठ'	'ठः'
,,	२	१७	मुह	मुँह
१२५१	२	१	यथाथ	यथार्थ
,,	२	३७	**निग्रन्थ**	**निर्ग्रन्थ**
१२५४	१	३४	उँचा	ऊँचा
१२५५	१	३६	मूख;	मूर्ख;
,,	२	१६	उसी	किसी
१२५६	१	२	**नैशोथिक**	**नैशीथिक**
१२५८	२	१	-वीज,	-बीज,
१२५६	२	१६	**तुण्हि;**	**तुण्हि=तूष्णीम्;**
,,	२	२८	वात	बात
१२६२	२	१२	दिव्वगा,	दिव्वगा,
१२६३	१	५	वह,	वह,
,,	२	२५	**दुरिष्ट**	**दूरिष्ट**
१२६५	२	३२	-चिह्न	-चिह्न
१२६७	२	२१	पूणता;	पूर्णता;
१२७२	१	१४	**+ध्वंस**	**+ध्वंस**
१२७६	२	३५	-चम	चर्म

——०००——

निवेदन।

कोई भी भाषा के ज्ञान के लिए उस भाषा का व्याकरण और कोष प्रधान साधन हैं। प्राकृत भाषा के प्राचीन व्याकरण अनेक हैं, जिनमें **चंड** का **प्राकृतलक्षण, वररुचि** का **प्राकृतप्रकाश, हेमाचार्य** का **सिद्धहेम** (अष्टम अध्याय) **मार्कण्डेय** का **प्राकृतसर्वस्व** और **लक्ष्मीधर** की **षड्भाषाचन्द्रिका** मुख्य हैं। और, अर्वाचीन प्राकृत व्याकरणों की संख्या अल्प होने पर भी उनमें जर्मनी के सुप्रसिद्ध प्राकृत-विद्वान् डो. **पिशल्** का प्राकृतव्याकरण सर्व-श्रेष्ठ है जो अतिविस्तृत और तुलनात्मक है। परन्तु प्राकृत-कोष के विषय में यह बात नहीं है। प्राकृत के प्राचीन कोषों में अद्यापि पर्यन्त केवल दो ही कोष उपलब्ध हुए हैं—पण्डित **धनपाल**-कृत **पाइअलच्छीनाममाला** और **हेमाचार्य**-प्रणीत **देशीनाममाला**। इनमें पहला अतिसंक्षिप्त—दो सौ से भी कम पद्यों में ही समाप्त और दूसरा केवल देश्य शब्दों का कोष है। इनके सिवा अन्य कोई भी प्राकृत का कोष न होनेसे प्राकृत के हरएक अभ्यासी को अपने अभ्यास में बहूत असुविधा होती थी, खुद मुझे भी अपने प्राकृत-ग्रन्थों के अनुशीलन-काल में इस अभाव का कटु अनुभव हुआ करता था। इससे आज से करीब पनरह साल पहले पूज्यपाद, प्रातःस्मरणीय, गुरुवर्य शास्त्र-विशारद जैनाचार्य श्री १००८ श्री **विजयधर्मसूरीश्वरजी** महाराज की प्रेरणा से प्राकृत का एक उपयुक्त कोष बनाने का मैंने विचार किया था।

इसी अरसे में श्री**राजेन्द्रसूरिजी** का **अभिधानराजेन्द्र**-नामक कोष का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ और अभी दो वर्ष हुए इसका अन्तिम भाग भी बाहर हो गया है। बड़ी बड़ी सात जिल्दों में यह कोष समाप्त हुआ है। इस संपूर्ण कोष का मूल्य २६०) रूपये हैं जो परिश्रम और ग्रन्थ-परिमाण में अधिक नहीं कहे जा सकते। यद्यपि इस कोष की विस्तृत आलोचना करने की न तो यहाँ जगह है, न आवश्यकता ही; तथापि यह कहे विना नहीं रहा जा सकता कि इसकी तय्यारी में इसके कर्ता और उसके सहकारिओं को सचमुच घोर परिश्रम करना पड़ा है और प्रकाशन में जैन श्वेताम्बर संघ को भारी धन-व्यय। परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि इसमें कर्ता को सफलता की अपेक्षा निष्फलता ही अधिक मिली है और प्रकाशक के धनका अपव्यय ही विशेष हुआ है। सफलता न मिलने का कारण भी स्पष्ट है। इस ग्रन्थ को थोड़े गौर से देखने पर यह सहज ही मालूम होता है कि इसके कर्ता को न तो प्राकृत भाषाओं का पर्याप्त ज्ञान था और न प्राकृत शब्द-कोष के निर्माण की उतनी प्रबल इच्छा, जितनी जैन-दर्शन-शास्त्र और तर्क-शास्त्र के विषय में अपने पाण्डित्य-प्रख्यापन की धून। इसी धून ने अपने परिश्रम को योग्य दिशा में ले जाने वाली विवेक-बुद्धि का भी ह्रास कर दिया है। यही कारण है कि इस कोष का निर्माण, केवल पचहत्तर से भी कम प्राकृत जैन पुस्तकों के ही, जिनमें अर्धमागधी के दर्शन-विषयक ग्रंथों की बहुलता है, आधार पर किया गया है और प्राकृत की ही इतर मुख्य शाखाओं के तथा विभिन्न विषयों के अनेक जैन तथा जैनेतर ग्रन्थों में एक का भी उपयोग नहीं किया गया है। इससे यह कोष व्यापक न होकर प्राकृत भाषा का एकदेशीय कोष हुआ है। इसके सिवा प्राकृत तथा संस्कृत ग्रन्थों के विस्तृत अंशों को और कहीं २ तो छोटे-बड़े *संपूर्ण ग्रन्थ को ही अवतरण के रूप में उद्धृत करने के कारण पृष्ठ-संख्या में बहूत बड़ा होने पर भी शब्द-संख्या में ऊन ही नहीं, बल्कि आधार-भूत ग्रंथो में आये हुए कई †उपयुक्त शब्दों को छोड़ देने से और विशेषार्थ-हीन

---

* जैसे 'चेइय' शब्द की व्याख्या में **प्रतिमाशतक**-नामक सटीक संस्कृत ग्रन्थ को आदि से लेकर अन्त तक उद्धृत किया गया है। इस ग्रंथ की श्लोक-संख्या करीब पाँच हजार है।

† अक्क=अर्क आदि।

*अतिदीर्घ सामासिक शब्दों की भरती से वास्तविक शब्द-संख्या में यह कोष अतिन्यून भी है। इतना ही नहीं, इस कोष में आदर्श पुस्तकों की, असावधानी की और प्रेस की तो असंख्य अशुद्धियाँ हैं ही, प्राकृत भाषा के अज्ञान से संबन्ध रखने वाली भूलों की भी कमी नहीं है। और सबसे बढ़कर दोष इस कोष में यह है कि **वाचस्पत्य, अनेकान्तजयपताका, अष्टक, रत्नाकरावतारिका** आदि केवल संस्कृत के और **जैन इतिहास** जैसे केवल आधुनिक गुजराती ग्रन्थों के संस्कृत और गुजराती शब्दों पर से कोरी निजी कल्पना से ही ◦ बनाये हुए प्राकृत शब्दों की इसमें खूब मिलावट की गई है, जिससे इस कोष की प्रामाणिकता ही एकदम नष्ट हो गई है। ये और अन्य अनेक अक्षम्य दोषों के कारण साधारण अभ्यासी के लिए इस कोष का उपयोग जितना भ्रामक और भयंकर है, विद्वानों के लिए भी उतना ही क्लेशकर है।

इस तरह प्राकृत के विविध भेदों और विषयों के जैन तथा जैनेतर साहित्य के यथेष्ट शब्दों से संकलित, आवश्यक अवतरणों से युक्त, शुद्ध एवं प्रामाणिक कोष का नितान्त अभाव बना ही रहा। इस अभाव की पूर्त्ति के लिये मैंने मेरे उक्त विचार को कार्य-रूप में परिणत करने का दृढ संकल्प किया और तदनुसार शीघ्र ही प्रयत्न भी शुरु कर दिया गया, जिसका फल प्रस्तुत कोष के रूप में चौदह वर्षों के कठोर परिश्रम के पश्चात् आज पाठकों के सामने उपस्थित है।

प्रस्तुत कोष की तय्यारी में जो अनेक कठिनाइयाँ मुझे झेलनी पड़ी हैं उनमें सर्व-प्रथम प्राकृत के शुद्ध पुस्तकों के विषय में थी। प्राकृत का विशाल साहित्य-भण्डार विविध-विषयक ग्रंथ-रत्नों से पूर्ण होने पर भी आजतक वह यथेष्ट रूप में प्रकाशित हो नहीं हुआ है। और, हस्त-लिखित पुस्तकें तो बहुधा अज्ञान लेखकों के हाथ से लिखी जानेके कारण प्रायः अशुद्ध ही हुआ करती हैं; परन्तु आजतक जो प्राकृत की पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं वे भी, न्यूनाधिक परिमाण में, अशुद्धिओं से खाली नही हैं। अलबत, यूरोप की और इस देश की कुछ पुस्तकें ऐसी उत्तम पद्धति से छपी हुई हैं कि जिनमें अशुद्धियाँ बहूत ही कम हैं, और जो कुछ रह भी गई हैं वे उनमें टिप्पनी में दिये हुए अन्य प्रतिओं के पाठान्तरों से सुधारी जा सकती हैं। परन्तु दुर्भाग्य से ऐसे संस्करणों की संख्या बहूत ही अल्प—नगण्य हैं। सचमुच, यह बड़े खेद की बात है कि भारतीय और खास कर हमारे जैन विद्वान प्राचीन पुस्तकों के संशोधन में अधिक हस्त-लिखित पुस्तकों का उपयोग करने की और उनके भिन्न भिन्न पाठों को टिप्पनी के आकार में उद्धृत करने की तकलीफ ही नहीं उठाते। इसका नतीजा यह होता है कि संशोधक की बुद्धि में जो पाठ शुद्ध मालूम होता है वही एक, फिर चाहे वह वास्तव में अशुद्ध ही क्यों न हो, पाठकों को देखने को मिलता है। प्राकृत के इतर मुद्रित ग्रन्थों की तो यह दुर्दशा है ही, परन्तु जैनों के पवित्रतम और अति प्राचीन आगम-ग्रन्थों की भी यही अवस्था है। कई वर्षों के पहले **मुर्शिदाबाद** के प्रसिद्ध धन-कुबेर राय **धनपतिसिंहजी** बहादूर ने अनेक आगम-ग्रन्थ भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न संशोधकों से संपादित करा कर छपवाये थे जिनमें अधिकांश अज्ञान संशोधकों से सम्पादित होनेके कारण खूब ही अशुद्ध छपे थे। किन्तु अभी कुछ ही वर्ष हुए हमारी **आगमोदय-समिति** ने अच्छा फंड एकत्रित करके भी जो आगमों के ग्रन्थ छपवाये हैं वे कागज, छपाई, सफाई आदि बाह्य शरीर की सजावट में सुन्दर होने पर भी शुद्धता के विषय में बहुधा पूर्वोक्त संस्करणों की पुनरावृत्ति ही है। क्योंकि, न किसी में आदर्श-पुस्तकों के पाठान्तर देने का परिश्रम किया गया है, न मूल और टीका के प्राकृत शब्दों की संगति की और ध्यान दिया गया है, और न तो प्रथम संस्करण की साधारण अशुद्धियाँ सुधारने की यथोचित कोशिश ही की गई है। क्या ही अच्छा हो, यदि श्री**आगमोदय-समिति** के कार्य-कर्ताओं का ध्यान इस तथ्य की और आकृष्ट हो और वे प्राकृत के विशेषज्ञ और परिश्रमी विद्वानों से संपादित करा कर समस्त (प्रकाशित और अप्रकाशित) आगम-ग्रन्थों का एक शुद्ध (Critical) संस्करण प्रकाशित करें, जिसकी अनिवार्य आवश्यकता है।

---

* जैसे अइ-तिक्ख-रोस, अइ-दुक्ख-धम्म, अइ-तिव्व-कम्म-विगम, अकुसल-जोग-णिरोह, अचियंते(?)उर-पर-घर-प्पवेस, अजिम्म(?)कंत-गायणा, अजस-सय-विसप्पमाण-हियय, अजहण्णुको(?)स-पएसिय आदि। इन शब्दों का इनके अवयवों की अपेक्षा कुछ भी विशेष अर्थ नहीं है।

◦ देखो अअगर, अखंडणाणारज, अगोरसव्वय, अचिंतगुणसमुदय, अज्झत्तबिंदु, अज्झत्तमयपरिक्खा, अज्झत्थबिंदु, अज्झत्थमयपरिक्खा, अझ(?)त्थओगसाहणजुत्त, अणेगंतजयपडागा प्रभृति शब्दों के रेफरेंस।

इस तरह हस्त-लिखित और मुद्रित प्राकृत-ग्रन्थ प्रायः अशुद्ध होने के कारण आवश्यकतानुसार एकाधिक हस्त-लिखित पुस्तकों का, अन्य ग्रन्थों में उद्धृत उन्हीं पाठों का और भिन्न भिन्न संस्करणों का सावधानी से निरीक्षण करके उनमें से शुद्ध प्राकृत शब्दों का तथा एक ही शब्द के भिन्न भिन्न परन्तु शुद्ध रूपों का ही यहाँ ग्रहण किया गया है और अशुद्ध शब्द या रूप छोड़ दिये गये हैं। और, जिस ग्रन्थ की एक ही हस्त-लिखित प्रति अथवा एक मुद्रित संस्करण पाया गया है उसमें रही हुई अशुद्धिओं का भी संशोधन यथामति किया गया है, और संशोधित शब्दों को ही इस कोष में स्थान दिया गया है। साधारण स्थलों को छोड़ कर खास खास स्थानों में ऐसी अशुद्धिओं का उल्लेख भी उन पाठों को उद्धृत करके किया गया है, जिससे विद्वान पाठक को मैंने की हुई शुद्धि की योग्यता या अयोग्यता पर विचार करने की सुविधा हो। इस प्रकार जैसे मूल प्राकृत शब्दों की अशुद्धिओं के संशोधन में पूरी सावधानी रक्खी गई है वैसे ही आधुनिक विद्वानों की की हुई छाया (संस्कृत प्रतिशब्द) और अर्थ की भूलों को सुधारने की भी पूरी कोशिश की गई है। सारांश यह कि इस कोष को सर्वाङ्ग-शुद्ध बनाने में संपूर्ण ध्यान दिया गया है। मुझे यह जानकर संतोष हुआ है कि मेरे इस प्रयत्न की कदर भी प्रोफेसर **ल्योमेन** जैसे प्राकृत के सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् तकने की है *।

दूसरी मुख्य कठिनाई अर्थ-व्यय के बारे में थी। मेरी आर्थिक अवस्था ऐसी नहीं थी कि इस महान् ग्रन्थ की तय्यारी के लिये पुस्तकादि आवश्यक साधनों के और सहायक मनुष्यों के वेतन-खर्च के अतिरिक्त प्रकाशन का भार भी वहन कर सकूँ। और, मुफ्त में किसी से आर्थिक सहायता लेना मैं पसन्द नहीं करता था। इससे इस कठिनाई को दूर करने के लिये अग्रिम ग्राहक बनाने की योजना की गई, जिसमें उन अग्रिम ग्राहकों को हर पचीस रूपये में इस संपूर्ण ग्रन्थ की एक कॉपी देने की व्यवस्था थी। इससे मेरी उक्त कठिनाई संपूर्ण तो नहीं, किन्तु बहुत-कुछ कम हो गई। इस योजना को इतने दूरतक सफल बनाने का अधिक श्रेयः कलकत्ता के जैन श्वेताम्बर-श्रीसंघ के अग्रगण्य नेता श्रीमान् **शेठ नरोत्तमभाई जेठाभाई** को है, जिन्होंने शुरु से ही इसकी संरक्षकता का भार अपने पर लेते हुए मुझे हर तरह से इस कार्य में सहायता की है, जिसके लिये मैं उनका चिर-कृतज्ञ हूँ। इसी तरह **अहमदाबाद**-निवासी श्रद्धेय श्रीयुत **केशवलाल-भाई प्रेमचन्द मोदी** बी. ए., एल्एल्. बी. का भी मैं बहूत ही उपकृत हूँ कि जिन्होंने कई मुद्रित पुस्तकों में दी हुई प्राकृत शब्द-सूचिओं पर से एकत्रित किया हुआ एक बड़ा शब्द-संग्रह मुझे दिया था; इतना ही नहीं, बल्कि समय समय पर प्राकृत की अनेक हस्त-लिखित तथा मुद्रित पुस्तकों का जोगाड़ कर दिया था, और उक्त योजना में ग्राहक-संख्या बढ़ा देने का हार्दिक प्रयत्न किया था। प्रातःस्मरणीय, पूज्यपाद, गुरुवर्य मुनिराज **श्रीअमीविजयजी** महाराज, पूज्य जैनाचार्य श्री**विजयमोहन सूरिजी**, जं. यु. भट्टारक श्री**जिनचारित्रसूरिजी** तथा स्वतन्त्र-सम्पादक विद्वद्वर्य श्रीयुत **अम्बिकाप्रसादजी वाजपेयी** का भी मैं हृदय से उपकार मानता हूँ कि जिनकी प्रेरणा से अग्रिम ग्राहकों की वृद्धि द्वारा मुझे इस कार्य में सहायता मिली है। उन महानुभावों को, जिनके शुभ नाम इसी ग्रन्थ में अन्यत्र दी हुई अग्रिम-ग्राहक-सूची में प्रकाशित किये गये हैं, अनेकानेक धन्यवाद हैं कि जिन्होंने यथाशक्ति अल्पाधिक संख्या में इस पुस्तक की कॉपियाँ खरीद कर मेरा यह कार्य सरल कर दिया है। यहाँ पर मेरे मित्र श्रीयुत **शेठ गिरधरलाल त्रिकमलाल** और श्रीमान् बाबू **डालचंदजी सिंघी** के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन दोनों महाशयों ने अपनी अपनी शक्ति के अनुसार यथेष्ट संख्या में इस कोष की कॉपियाँ खरीदने के अतिरिक्त मुझे इस कार्य के लिये समय समय पर विना सूद ऋण देने की भी कृपा की थी। यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है कि यदि उक्त सब महानुभावों की यह सहायता मुझे प्राप्त न हुई होती तो इस कोष का प्रकाशन मेरे लिए मुश्किल ही नहीं, असंभव था।

यहाँ इस बात का भी उल्लेख करना उचित जान पड़ता है कि आज से करीब दश वर्ष पहले मेरे सहाध्यापक श्रद्धेय प्रोफेसर **मुरलीधर बेनर्जी** एम्. ए. महाशय ने और मैंने मिलकर एक प्रस्ताव विशिष्ट पद्धति का प्राकृत-इंग्लिश कोष तैयार करने के लिए **कलकत्ता-विश्वविद्यालय** में उपस्थित किया था, परन्तु उस समय वह अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया था। इसके कई वर्ष बाद जब मेरे इस प्राकृत-हिन्दी कोष का प्रथम भाग प्रकाशित

---

* देखो अन्यत्र उद्धृत किये हुए इस ग्रन्थ-विषयक अभिप्रायों में रोयल एसियाटिक सोसाईटी के जर्नल में प्रकाशित प्रो. ल्युमेन का अभिप्राय।

हुआ तब उसे देखकर **कलकत्ता-विश्वविद्यालय** के कर्णधार स्वर्गीय ऑनरेबल जस्टिस **आशुतोष मुकर्जी** इतने संतुष्ट हुए कि उन्होंने तुरंत ही विश्वविद्यालय की तरफ से हम दोनों के तत्त्वावधान में इसी तरह के प्रमाण-युक्त एक प्राकृत-इंग्लिश कोश तय्यार और प्रकाशित करने का न केवल प्रस्ताव ही पास करवाया, बल्कि उसको कार्य-रूप में परिणत करने के लिए उपयुक्त व्यवस्था भी करायी है। इसके लिए उनको जितने धन्यवाद दिये जायँ, कम हैं। यहाँ पर मैं **कलकत्ता-विश्वविद्यालय** की भी प्रशंसा किये विना नहीं रह सकता कि जिसके द्वारा मुझे इस कार्य में समय, पुस्तक आदि की अनेक सुविधाएँ मिली हैं, जिससे यह कार्य अपेक्षा-कृत शीघ्रता से पूर्ण हो सका है। इस कोष के उपोद्घात से संबन्ध रखने वाले अनेक ऐतिहासिक जटिल प्रश्नों को सुलझाने में श्रद्धेय प्रोफेसर **मुरलीधर बेनर्जी** एम्. ए. ने अपने कीमती समय का विना संकोच भोग देकर मुझे जो सहायता की है उसके लिए मैं उनका अन्तःकरण से आभार मानता हूँ।

इस कोष के मुद्रण-कार्य के आरम्भ से लेकर प्रायः शेष होने तक, समय २ पर जैसे २ जो अतिरिक्त हस्त-लिखित और मुद्रित पुस्तकें या संस्करण मुझे प्राप्त होते जाते थे वैसे २ उनका भी यथेष्ट उपयोग इस कोष में किया जाता था। यही कारण है कि तब तक के अमुद्रित भाग के शब्द उनके रेफरेंसों के साथ २ प्रस्तुत कोष में ही यथास्थान शामिल कर दिये जाते थे और मुद्रित अंश के शब्दों का एक अलग संग्रह तय्यार किया जाता था जो परिशिष्ट के रूप में इसी ग्रन्थ में अन्यत्र प्रकाशित किया जाता है। ऐसा करते हुए तृतीय भाग के छपने तक जिन अतिरिक्त पुस्तकों का उपयोग किया गया था उनकी एक अलग सूची भी तृतीय भाग में दी गई थी। उसके बाद के अतिरिक्त पुस्तकों की अलग सूची इसमें न देकर प्रथम की दोनों (द्वितीय और तृतीय भाग में प्रकाशित) सूचिओं की जो एक साधारण सूची यहाँ दी जाती है उसीमें उन पुस्तकों का भी वर्णानुक्रम से यथास्थान समावेश किया गया है, जिससे पाठकों को अलग २ रेफरेंस-सूचियाँ देखने की तकलीफ न हो।

उक्त परिशिष्ट में केवल उन्हीं शब्दों को स्थान दिया गया है जो पूर्व-संग्रह में न आने के कारण एकदम नये हैं या आने पर भी लिंग या अर्थ में पूर्वागत शब्द की अपेक्षा विशेषता रखते हैं। केवल रेफरेंस की विशेषता को लेकर किसी शब्द की परिशिष्ट में पुनरावृत्ति नहीं की गई है।

यद्यपि मेरी मातृभाषा हिन्दी नहीं है तथापि वही एकमात्र भारतवर्ष की सर्वाधिक व्यापक और इस लिए राष्ट्र-भाषा के योग्य होने के कारण यहाँ अर्थ के लिए विशेष उपयुक्त समझी गई है।

अन्त में, आर्ष से ले कर अपभ्रंश तक की प्राकृत भाषाओं के विविध-विषयक जैन एवं जैनेतर प्राचीन ग्रन्थों के (जिनकी कुल संख्या ढ़ाई सौ से भी ज्यादः है) अतिविशाल शब्द-राशि से, संस्कृत प्रतिशब्दों से, हिन्दी अर्थों से, सभी आवश्यक अवतरणों से और संपूर्ण प्रमाणों से परिपूर्ण इस बृहत् प्राकृत-कोष में, यथेष्ट सावधानता रखने पर भी, जो कुछ मनुष्य-स्वभाव-सुलभ त्रुटियाँ या भूलें हुई हों उनको सुधारने के लिए विद्वानों से नम्र प्रार्थना करता हुआ यह आशा रखता हूँ कि वे ऐसी भूलों के विषय में मुझे सतर्क करेंगे ताकि द्वितीयावृत्ति में तदनुसार संशोधन का कार्य सरल हो पड़े। जो विद्वान मेरे भ्रम-प्रमादों की प्रामाणिक पद्धति से सूचना देंगे, मैं उनका चिर-कृतज्ञ रहूँगा।

यदि मेरी इस कृति से, प्राकृत-साहित्य के अभ्यास में थोड़ी भी सहायता पहुँचेगी तो मैं अपने इस दीर्घ-काल-व्यापी परिश्रम को सफल समझूँगा।

कलकत्ता, ता० २९-१-२८ } **हरगोविन्द दास टि. शेठ।**

उपोद्घात।

प्राकृत किसे कहते हैं ?

जो भाषा अतिप्राचीन काल में इस देश के आर्य लोगों की कथ्य भाषा—बोलचाल की भाषा—थी, जिस भाषा में भगवान् महावीर और बुद्धदेव ने अपने पवित्र सिद्धान्तों का उपदेश दिया था, जिस भाषा को जैन और बौद्ध विद्वानों ने विविध-विषयक विपुल साहित्य की रचना कर अपनाई है, जिस भाषा में श्रेष्ठ काव्य-निर्माण द्वारा प्रवरसेन, हाल आदि महाकविओं ने अपनी अनुपम प्रतिभा का परिचय दिया है, जिस भाषा के मौलिक साहित्य के आधार पर संस्कृत के अनेक उत्तम ग्रन्थों की रचना हुई है, संस्कृत के नाटक-ग्रन्थों में संस्कृत-भिन्न जिस भाषा का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है, जिस भाषा से भारतवर्ष की वर्तमान समस्त आर्य भाषाओं की उत्पत्ति हुई है और जो भाषाएँ भारत के अनेक प्रदेशों में आजकल भी बोली जाती हैं, इन सब भाषाओं का साधारण नाम है प्राकृत, क्योंकि ये सब भाषाएँ एकमात्र प्राकृत के ही विभिन्न रूपान्तर हैं जो समय और स्थान की भिन्नता के कारण उत्पन्न हुए हैं। इसीसे इन भाषाओं के व्यक्ति-वाचक नामों के आगे 'प्राकृत' शब्द का प्रयोग आजतक किया जाता है, जैसे प्राथमिक प्राकृत, आर्ष या अर्धमागधी प्राकृत, पाली प्राकृत, पैशाची प्राकृत, शौरसेनी प्राकृत, महाराष्ट्री प्राकृत, अपभ्रंश प्राकृत, हिन्दी प्राकृत, बंगला प्राकृत आदि।

भारतवर्ष की अर्वाचीन और प्राचीन भाषाएँ और उनका परस्पर संबन्ध।

भाषातत्त्व के अनुसार भारतवर्ष की आधुनिक कथ्य भाषाएँ इन पाँच भागों में विभक्त की जा सकती हैं:—(१) आर्य (Aryan), (२) द्राविड (Dravidian), (३) मुण्डा (Munda), (४) मन्-ख्मेर (Mon-khmer) और (५) तिब्बत-चीना (Tibeto-Chinese).

भारत की वर्तमान भाषाओं में मराठी, बँगला, ओड़िया, बिहारी, हिन्दी, राजस्थानी, गूजंराती, पंजाबी, सिन्धी और काश्मीरी भाषा आर्य भाषा से उत्पन्न हुई हैं। पारसी तथा अंग्रेजी, जर्मनी आदि अनेक आधुनिक युरोपीय भाषाओं की उत्पत्ति भी इसी आर्य भाषा से है। भाषा-गत सादृश्य को देखकर भाषा-तत्त्व-ज्ञाताओं का यह अनुमान है कि इस समय विच्छिन्न और बहु-दूर-वर्ती भारतीय आर्य-भाषा-भाषी समस्त जातियाँ और उक्त युरोपीय भाषा--भाषी सकल जातियाँ एक ही आर्य-वंश से उत्पन्न हुई हैं।

तेलगु, तामिल और मलयालम प्रभृति भाषाएँ द्राविड भाषा के अन्तर्गत हैं; कोल तथा साँथाली भाषा मुण्डा भाषा के अन्तर्भूत हैं; खासी भाषा मन्ख्मेर भाषा का और भोटानी तथा नागा भाषा तिब्बत-चीना भाषा का निदर्शन है। इन समस्त भाषाओं की उत्पत्ति किसी आर्य भाषा से संबन्ध नहीं रखती, अत एव ये सभी अनार्य भाषाएँ हैं। यद्यपि ये अनार्य भाषाएँ भारत के ही दक्षिण, उत्तर और पूर्व भाग में बोली जाती हैं तथापि अंग्रेजी आदि सुदूरवर्ती भाषाओं के साथ हिन्दी आदि आर्य भाषाओं का जो वंश-गत ऐक्य उपलब्ध होता है, इन अनार्य भाषाओं के साथ वह संबन्ध नहीं देखा जाता है।

ये सब कथ्य भाषाएँ आजकल जिस रूप में प्रचलित हैं, पूर्वकाल में उसी रूप में न थीं, क्योंकि कोई भी कथ्य भाषा कभी एक रूप में नही रहती। अन्य वस्तुओं की तरह इसका रूप भी सर्वदा बदलता ही रहता है—देश, काल और व्यक्ति-गत उच्चारण के भेद से भाषा का परिवर्तन अनिवार्य होता है। यद्यपि यह परिवर्तन जो लोग भाषा का व्यवहार करते हैं उनके द्वारा ही होता है तथापि उस समय वह लक्ष्य में नहीं आता। पूर्वकाल की भाषा के संरक्षित आदर्श के साथ तुलना करने पर बाद में ही वह जाना जाता है।

प्राचीन काल की जिन भारतीय भाषाओं के आदर्श संरक्षित हैं—जिन भाषाओं ने साहित्य में स्थान पाया है, उनके नाम ये हैं—वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, पाली, अशोक लिपि तथा उसके बाद की लिपि की भाषा और प्राकृत भाषा-समूह। इनमें प्रथम की दो भाषाएँ कभी जन-साधारण की कथ्य भाषा न थीं, केवल लेख्य—साहित्यिक भाषा—ही थीं। अवशिष्ट भाषाएँ कथ्य और लेख्य उभय रूप में प्रचलित थीं। इस समय ये समस्त भाषाएँ कथ्य रूप से व्यवहृत नहीं होती, इसी कारण ये मृत भाषा (dead languages) कहलाती हैं। उक्त वैदिक आदि सब भाषाएँ आर्य भाषा के अन्तर्गत हैं और इन्ही प्राचीन आर्य भाषाओं में से कइएक क्रमशः रूपान्तरित होकर आधुनिक समस्त आर्य भाषाएँ उत्पन्न हुई हैं।

ये प्राचीन आर्य भाषाएँ कौन युग में किस रूप में परिवर्तित होकर क्रमशः आधुनिक कथ्य भाषाओं में परिणत हुई, इसका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं का परिणति-क्रम।

वेद-भाषा और लौकिक संस्कृत।

सर ज्योर्ज ग्रियर्सन ने अपनी लिंग्विस्टिक सर्वे ओफ इंडिया (Linguistic survey of India) नामक पुस्तक में भारतवर्षीय समस्त आर्य भाषाओं के परिणाम का जो क्रम दिखाया है उसके अनुसार वैदिक भाषा उक्त साहित्य-भाषाओं में सर्व-प्राचीन है। इसका समय अनेक विद्वानों के मत में खिस्ताब्द-पूर्व दो हजार वर्ष (2000 B. C.) और प्रो. मेक्समूलर के मत में खिस्ताब्द-पूर्व बारह सौ वर्ष (1200 B. C.) है। यह वेद-भाषा क्रमशः परिमार्जित होती हुई ब्राह्मण, उपनिषद् और यास्क के निरुक्त की भाषा में और बाद में पाणिनि-प्रभृति के व्याकरण-द्वारा नियन्त्रित होकर लौकिक संस्कृत में परिणत हुई है। पाणिनि-आदि के पद-प्रभृति के नियम-रूप संस्कारों को प्राप्त करने के कारण यह संस्कृत कहलाई। मुख्य रूप से 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग इसी भाषा के अर्थ में किया जाता है। यह संस्कृत भाषा वैदिक भाषा से उत्पन्न होने से और उसके साथ घनिष्ठ संबन्ध रखने से वेद-भाषा के अर्थ में भी 'संस्कृत' शब्द बाद के समय से प्रयुक्त होने लग गया है। पाणिनि के बाद संस्कृत भाषा का कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। यह परिवर्तन होने में—वेद-भाषा को लौकिक संस्कृत के रूप में परिणत होने में—प्रायः डेढ़ हजार वर्ष लगे हैं। पाणिनि का समय गोल्डस्टुकर के मत में खिस्ताब्द-पूर्व सप्तम शताब्दी और बोथलिंक के मत में खिस्ताब्द-पूर्व चतुर्थ शताब्दी है।

वेद और वैदिक सभ्यता

यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि डो. होर्नलि और सर ग्रियर्सन के मन्तव्य के अनुसार आर्य लोगों के दो दल भिन्न २ समय में भारतवर्ष में आये थे *। पहले आर्यों के एक दल ने यहाँ आकर मध्यदेश में अपने उपनिवेश की स्थापना की थी। इसके कई सौ वर्षों के बाद आर्यों के दूसरे दल ने भारत में प्रवेश कर प्रथम

---

* आर्य लोगों के आदिम वास-स्थान के विषय में आधुनिक विद्वानों में गहरा मत-भेद है। कोई स्कान्डी-नेविया को, कोई जर्मनी को, कोई पोलान्ड को, कोई हंगरी को, कोई दक्षिण रशिया को, कोई मध्य एशिया को आर्यों की आदिम निवास-भूमि मानते हैं तो कोई २ पंजाब और काश्मीर को ही इनका प्रथम वसति-स्थान बतलाते हैं। किन्तु अधिकांश विद्वान भाषा-तत्त्व के द्वारा इस सिद्धान्त पर उपनीत हुए हैं कि युरोपीय और पूर्वदेशीय आर्यों में प्रथम विच्छेद हुआ। पीछे पूर्वदेश के आर्य लोग मेसेपोटेमिया और ईरान में एक साथ रहे और एक ही देव-देवी की उपासना करते थे। उसके बाद वे भी विच्छिन्न होकर एक दल फारस में गया और अन्य दल ने अफगानिस्थान के बीच होकर भारतवर्ष में प्रवेश और निवास किया। परन्तु जैन और हिन्दू शास्त्रों के अनुसार भारतवर्ष ही चिरकाल से आर्यों का आदिम निवास-स्थान है। कोई २ आधुनिक विद्वान ने पुरातत्त्व की नूतन खोज के आधार पर भारतवर्ष से ही कुछ आर्य लोगों का ईरान आदि देशों में गमन और विस्तार-लाभ सिद्ध किया है, जिससे उक्त शास्त्रीय प्राचीन मत का समर्थन होता है।

दल के आर्यों को मध्यदेश की चारों ओर भगा कर उनके स्थान को अपने अधिकार में किया और मध्यदेश को ही अपना वास-स्थान कायम किया। उक्त विद्वानों को यह मन्तव्य इसलिए करना पड़ा है कि मध्यदेश के चारों पार्श्वों में स्थित पंजाब, सिन्ध, गूजरात, राजपूताना, महाराष्ट्र, अयोध्या, बिहार, बंगाल और उडीसा प्रदेशों की आधुनिक आर्य कथ्य भाषाओं में परस्पर जो निकटता देखी जाती है तथा मध्यदेश की आधुनिक हिन्दी भाषा [पाश्चात्य हिन्दी] के साथ उन सब प्रान्तों की भाषाओं में जो भेद पाया जाता है, उस निकटता और भेद का अन्य कोई कारण दिखाना असंभव है। मध्यदेशवासी इस दूसरे दल के आर्यों का उस समय का जो साहित्य और जो सभ्यता थी उन्हीं के क्रमशः नाम हैं वेद और वैदिक सभ्यता।

प्राकृत-भाषाओं का प्रथम स्तर। (खिस्त-पूर्व २००० से खिस्त-पूर्व ६००)

उक्त वेद-भाषा प्राचीन होने पर भी वह वैदिक युग में जन-साधारण की कथ्य भाषा न थी, ऋषि-लोगों की साहित्य-भाषा थी। उस समय जन-साधारण में वैदिक भाषा के अनुरूप अनेक प्रादेशिक भाषायें (dialects) कथ्य रूप से प्रचलित थीं। इन प्रादेशिक भाषाओं में से एक ने परिमार्जित होकर वैदिक साहित्य में स्थान पाया है। ऊपर वैदिक युग से पूर्व काल में आये हुए प्रथम दल के जिन आर्यों के मध्यदेश के चारों तरफ के प्रदेशों में उपनिवेशों का उल्लेख किया गया है उन्होंने वैदिक युग अथवा उसके पूर्व-काल में अपने २ प्रदेशों की कथ्य भाषाओं में, दूसरे दल के आर्यों की वेद-रचना की तरह, किसी साहित्य की रचना नहीं की थी। इससे उन प्रादेशिक आर्य भाषाओं का तात्कालिक साहित्य में कोई निदर्शन न रहने से उनके प्राचीन रूपों का संपूर्ण लोप हो गया है। वैदिक काल की और इसके पूर्व की उन समस्त कथ्य भाषाओं को सर ग्रियर्सन ने प्राथमिक प्राकृत (Primary Prakrits) नाम दिया है। यही प्राकृत भाषा-समूह का प्रथम स्तर (First stage) है। इसका समय खिस्त-पूर्व २००० से खिस्त-पूर्व ६०० तक का निर्दिष्ट किया गया है। प्रथम स्तर की ये समस्त प्राकृत भाषायें स्वर और व्यञ्जन आदि के उच्चारण में तथा विभक्तिओं के प्रयोग में वैदिक भाषा के अनुरूप थीं। इससे ये भाषायें विभक्ति-बहुल (synthetic) कही जाती हैं।

प्राकृत-भाषाओं का द्वितीय स्तर। (खिस्त-पूर्व ६०० से खिस्ताब्द ६००)

वैदिक युग में जो प्रादेशिक प्राकृत भाषायें कथ्य रूप से प्रचलित थीं, उनमें परवर्ति-काल में अनेक परिवर्तन हुए, जिनमें ऋ, ॠ आदि स्वरों का, शब्दों के अन्तिम व्यञ्जनों का, संयुक्त व्यञ्जनों का तथा विभक्ति और वचन-समूह का लोप या रूपान्तर मुख्य हैं। इन परिवर्तनों से ये कथ्य भाषायें प्रचुर परिमाण में रूपान्तरित हुईं। इस तरह द्वितीय स्तर (second stage) की प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति हुई। द्वितीय स्तर की ये भाषायें जैन और बौद्ध धर्म के प्रचार के समय से अर्थात् खिस्त-पूर्व षष्ठ शताब्दी से लेकर खिस्तीय नवम या दशम शताब्दी पर्यन्त प्रचलित रहीं। भगवान महावीर और बुद्धदेव के समय ये समस्त प्रादेशिक प्राकृत भाषायें, अपने द्वितीय स्तर के आकार में, भिन्न २ प्रदेश में कथ्य भाषा के तौर पर व्यवहृत होती थीं। उन्होंने अपने सिद्धान्तों का उपदेश इन्हीं कथ्य प्राकृत भाषाओं में से एक में दिया था। इतना ही नहीं, बल्कि बुद्धदेव ने अपना उपदेश संस्कृत भाषा में न लिखकर कथ्य प्राकृत भाषा में ही लिखने के लिए अपने शिष्यों को आदेश किया था। इस तरह प्राकृत भाषाओं का क्रमशः साहित्य की भाषाओं में परिणत होने का सूत्रपात हुआ, जिसके फल-स्वरूप पश्चिम मगध और सूरसेन देश के मध्यवर्ती प्रदेश में प्रचलित कथ्य भाषा से जैनों के धर्म-पुस्तकों की अर्धमागधी भाषा और पूर्व मगध में प्रचलित लोक-भाषा से बौद्ध धर्म-ग्रन्थों की पाली भाषा उत्पन्न हुई। पाली भाषा के उत्पत्ति-स्थान के संबन्ध में पाश्चात्य विद्वानों का जो मत-भेद है उसका विचार हम आगे जा कर करेंगे। खिस्ताब्द से २५० वर्ष पहले सम्राट् अशोक ने बुद्धदेव के उपदेशों को भिन्न २ प्रदेशों में वहाँ २ की विभिन्न प्रादेशिक प्राकृत भाषाओं में खुदवाये। इन अशोक शिलालेखों में द्वितीय स्तर की प्राकृत

भाषाओं के असंदिग्ध सर्व-प्राचीन निदर्शन संरक्षित हैं। द्वितीय स्तर के मध्य भाग में—प्रायः खिस्तीय पंचम शताब्दी के पूर्व में—भिन्न २ प्रदेशों की अपभ्रंश भाषाओं की उत्पत्ति हुई। इस स्तर की भाषाओं में चतुर्थी विभक्ति का, सब विभक्तिओं के द्विवचनों का और आख्यात की अधिकांश विभक्तिओं का लोप होने पर भी विभक्तिओं का प्रयोग अधिक मात्रा में विद्यमान था। इससे इस स्तर की भाषायें भी विभक्ति-बहुल कही जाती हैं।

प्राकृत भाषाओं का तृतीय स्तर या आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की उत्पत्ति। (खिस्ताब्द ९००)

सर ग्रियर्सन ने यह सिद्धान्त किया है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की उत्पत्ति द्वितीय स्तर की प्राकृत भाषाओं से, खास कर उसके शेष भाग में प्रचलित विविध अपभ्रंश-भाषाओं से हुई है और आधुनिक भाषाओं को 'तृतीय स्तर की प्राकृत (Tertiary Prakrits)' कह कर निर्देश किया है। इन भाषाओं की उत्पत्ति का समय खिस्तीय दशम शताब्दी है। इनका साधारण लक्षण यह है कि इनमें अधिकांश विभक्तिओं का लोप हुआ है, एवं भाषाओं की प्रकृति विभक्ति-बहुल न होकर विभक्तिओं के बोधक स्वतन्त्र शब्दों का व्यवहार हुआ है। इससे ये विश्लेषणशील भाषायें (Analytical Languages) कही जाती हैं।

जिस प्रादेशिक अपभ्रंश से जिस आधुनिक भारतीय आर्य भाषा की उत्पत्ति हुई है उसका विवरण आगे 'अपभ्रंश' शीर्षक में दिया जायगा।

द्वितीय स्तर की प्राकृत भाषाओं का इतिहास।

प्रस्तुत कोष में द्वितीय स्तर की साहित्यिक प्राकृत भाषाओं के शब्दों को ही स्थान दिया गया है। इससे इन भाषाओं की उत्पत्ति और परिणति के संबन्ध में यहाँ पर कुछ विस्तार से विवेचन करना आवश्यक है।

साधारणतः लोगों की यही धारणा है कि संस्कृत भाषा से ही द्वितीय स्तर की समस्त प्राकृत भाषायें और आधुनिक भारतीय भाषायें उत्पन्न हुई हैं। कई प्राकृत-वैयाकरणों ने भी अपने प्राकृत-व्याकरणों में इसी मत का समर्थन किया है। परन्तु यह मत कहाँ तक सत्य है, इसका विचार करने के पहले इन भाषाओं के भेदों को जानने की जरूरत है।

प्राकृत का संस्कृत-सापेक्ष विभाग।

प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृत भाषाओं के शब्द, संस्कृत शब्दों के सादृश्य और पार्थक्य के अनुसार, इन तीन भागों में विभक्त किये हैं:—(१) तत्सम, (२) तद्भव और (३) देश्य या देशी।

(१) जो शब्द संस्कृत और प्राकृत में बिलकुल एक रूप हैं उनको 'तत्सम' या 'संस्कृतसम' कहते हैं, जैसे—अञ्जलि, आगम, इच्छा, ईहा, उत्तम, ऊढा, एरंड, ओङ्कार, किङ्कर, खञ्ज, गण, घण्टा, चित्त, छल, जल, झङ्कार, टङ्कार, डिम्भ, ढक्का, तिमिर, दल, धवल, नीर, परिमल, फल, बहु, भार, मरण, रस, लव, वारि, सुन्दर, हरि, गच्छन्ति, हरन्ति प्रभृति।

(२) जो शब्द संस्कृत से वर्ण-लोप, वर्णागम अथवा वर्ण-परिवर्तन के द्वारा उत्पन्न हुए हैं वे 'तद्भव' अथवा 'संस्कृतभव' कहलाते हैं, जैसे—अग्र=अग्ग, आर्य=आरिअ, इष्ट=इट्ठ, ईर्ष्या=ईसा, उद्गम=उग्गम, कृष्ण=कसण, खर्जूर=खज्जूर, गज=गअ, घर्म=घम्म, चक्र=चक्क, क्षोभ=छोह, यत्न=जत्त, ध्यान=झाण, दंश=डंस, नाथ=णाह, त्रिदश=तिअस, दृष्ट=दिट्ठ, धार्मिक=धम्मिअ, पश्चात्=पच्छा, स्पर्श=फंस, बदर=बोर, भार्या=भारिआ, मेघ=मेह, अरण्य=रण्ण, लेश=लेस, शेष=सेस, हृदय=हिअअ, भवति=हवइ, पिबति=पिअइ, पृच्छति=पुच्छइ, अकार्षीत्=अकासी, भविष्यति=होहिइ इत्यादि।

(३) जिन शब्दों का संस्कृत के साथ कुछ भी सादृश्य नहीं है—कोई भी संबन्ध नहीं है, उनको 'देश्य' या 'देशी' बोला जाता है; यथा—अगय (दैत्य), आकासिय (पर्याप्त), इराव, (हस्ती), ईस (कीलक),

उअचित्त (अपगत), ऊसअ (उपधान), एलविल (धनाढ्य, वृषभ), ओंडल (धम्मिल्ल), कंदोट्ट (कुमुद) खुड्डिअ (सुरत), गयसाउल (विरक्त), घढ (स्तूप), चउक्कर (कार्तिकेय), छंकुई (कपिकच्छू), जच्च (पुरुष) झडप्प (शीघ्र), टंका (जङ्घा), डाल (शाखा), ढंढर (पिशाच, ईर्ष्या), णित्तिरडिअ (त्रुटित), तोमरी (लता) थमिअ (विस्मृत), दाणि (शुल्क), धयण (गृह), निक्खुत्त (निश्चित), पणिआ (करोटिका), फुंटा (केश-बन्ध) बिट्ट (पुत्र), भुंड (शूकर), मड्डा (बलात्कार), रत्ति (आज्ञा), लंच (कुक्कुट), विच्छड्ड (समूह), सयरा (शीघ्र), हुत्त (अभिमुख), उअ (पश्य), खुप्पइ (निमज्जति), छिवइ (स्पृशति), देक्खइ, निअच्छइ (पश्यति) चुक्कइ (भ्रश्यति), चोप्पडइ (म्रक्षति), अहिपच्चुअइ (गृह्णाति) प्रभृति।

प्राकृत भाषाओं का भौगोलिक विभाग।

उपर्युक्त विभाग प्राकृत के साथ संस्कृत के सादृश्य और पार्थक्य के ऊपर निर्भर करता है। इसके सिवा संस्कृत और प्राकृत के प्राचीन ग्रन्थकारों ने प्राकृत भाषाओं का और एक विभाग किया है जो प्राकृत भाषाओं के उत्पत्ति-स्थानों से संबन्ध रखता है। यह भौगोलिक विभाग (Geographical Classification) कहा जा सकता है भरत-प्रणीत कहे जाते नाट्य-शास्त्र में, * सात भाषाओं के जो मागधी, अवन्तिजा प्राच्या, सूरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका और दाक्षिणात्या ये नाम हैं, चण्ड के प्राकृत-व्याकरण में जो † पैशाचिकी और ‡ मागधिका ये नाम मिलते हैं, दण्डी ने काव्यादर्श में जो § महाराष्ट्राश्रया, शौरसेनी गौडी और लाटी ये नाम दिये हैं, आचार्य हेमचन्द्र आदि ने मागधी, शौरसेनी, पैशाची और चूलिकापैशाचिक कह कर जिन नामों का निर्देश किया है और मार्कण्डेय ने अपने प्राकृतसर्वस्व में प्राकृतचन्द्रिका के × कतिपय श्लोकों को उद्धृत कर महाराष्ट्री, आवन्ती, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीकी, मागधी, प्राच्या और दाक्षिणात्या इन आठ भाषाओं के, छह विभाषाओं में द्राविड और ओढ्र इन दो विभाषाओं के, ग्यारह पिशाच-भाषाओं में काञ्चीदेशीय, पाण्डय, पाञ्चाल, गौड, मागध, व्राचड, दाक्षिणात्य, शौरसेन, कैकय और द्राविड इन दश पिशाच-भाषाओं के और सताईस अपभ्रंशों में व्राचड, लाट, वैदर्भ, बार्बर, आवन्त्य, पाञ्चाल टाक्क, मालव, कैकय, गौड, उड्र, हैव, पाण्डय, कौन्तल, सिंहल, कालिङ्ग, प्राच्य, कार्णाट, काञ्च, द्राविड गौर्जर, आभीर और मध्यदेशीय इन तेईस अपभ्रंशों के जिन नामों का उल्लेख किया है वे उस भिन्न २ देश से ही संबन्ध रखते हैं जहाँ २ वह २ भाषा उत्पन्न हुई है। षड्भाषाचन्द्रिका के कर्ता ने ÷ 'शूरसेन देश में उत्पन्न भाषा शौरसेनी कही जाती है, मगध देश में उत्पन्न भाषा को मागधी कहते हैं और पिशाच-देशों की भाषा पैशाची और चूलिकापैशाची है' यह लिखते हुए यही बात अधिक स्पष्ट रूप में कही है।

---

* "मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरसेन्यर्धमागधी।
वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः॥" (नाट्यशास्त्र १७, ४८)।

† "पैशाचिक्यां रणयोर्लनौ" (प्राकृतलक्षण ३, ३८)।

‡ "मागधिकायां रसयोर्लशौ" (प्राकृतलक्षण ३, ३९)।

§ "महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्॥
शौरसेनी च गौडी च लाटी चान्या च तादृशी।
याति प्राकृतमित्येवं व्यवहारेषु सन्निधिम्॥" (काव्यादर्श १, ३४; ३५)।

× ये श्लोक 'पैशाची' और 'अपभ्रंश' के प्रकरण में दिये गये हैं।

÷ "शूरसेनोद्भवा भाषा शौरसेनीति गीयते।
मगधोत्पन्नभाषां तां मागधीं संप्रचक्षते।
पिशाचदेशनियतं पैशाचीद्वितयं भवेत्॥" (षड्भाषाचन्द्रिका, पृष्ठ २)।

प्राकृत वैयाकरणों के मत से तत्सम आदि शब्दों की प्रकृति।

पूर्व में प्राकृत भाषाओं के शब्दों के जो तीन प्रकार दिखाये हैं उनमें प्रथम प्रकार के तत्सम शब्द संस्कृत से ही सब देशों के प्राकृतो में लिये गये हैं; दूसरे प्रकार के तद्भव शब्द संस्कृत से उत्पन्न होने पर भी काल-क्रम से भिन्न २ देश में भिन्न २ रूप को प्राप्त हुए हैं और तीसरे प्रकार के देश्य शब्द वैदिक अथवा लौकिक संस्कृत से उत्पन्न नहीं हुए हैं, किन्तु भिन्न २ देश में प्रचलित भाषाओं से गृहीत हुए हैं। प्राकृत वैयाकरणों का यही मत है।

देश्य शब्द।

मूल

पहले प्राकृत भाषाओं का जो भौगोलिक विभाग बताया गया है, ये तृतीय प्रकार के देशीशब्द उसी भौगोलिक विभाग से उत्पन्न हुए हैं। वैदिक और लौकिक संस्कृत भाषा पंजाब और मध्यदेश में प्रचलित वैदिक काल की प्राकृत भाषा से उत्पन्न हुई है। पंजाब और मध्यदेश के बाहर के अन्य प्रदेशों में उस समय आर्य लोगों की जो प्रादेशिक प्राकृत भाषायें प्रचलित थीं उन्हीं से ये देशीशब्द गृहीत हुए हैं। यही कारण है कि वैदिक और संस्कृत साहित्य में देशीशब्दों के अनुरूप कोई शब्द (प्रतिशब्द) नहीं पाया जाता है।

प्राचीन काल में भिन्न भिन्न प्रादेशिक प्राकृत भाषायें हयात थीं, इस बात का प्रमाण व्यास के महाभारत, भरत के नाट्यशास्त्र और वात्स्यायन के कामसूत्र आदि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में और जैनों के ज्ञाताधर्मकथा, विपाकश्रुत, औपपातिकसूत्र तथा राजप्रश्नीय आदि प्राचीन प्राकृत ग्रन्थो में भी मिलता है*। इन ग्रन्थों में 'नानाभाषा', 'देशभाषा' या 'देशीभाषा' शब्द का प्रयोग प्रादेशिक प्राकृत के अर्थ में ही किया गया है। चंड ने अपने प्राकृत व्याकरण में जहाँ † देशीप्रसिद्ध प्राकृत का उल्लेख किया है वहाँ भी देशी शब्द का अर्थ देशीभाषा ही है। ये सब देशी या प्रादेशिक भाषाएँ भिन्न भिन्न प्रदेशों के निवासी आर्य लोगों की ही कथ्य भाषायें थीं। इन भाषाओं का पंजाब और मध्यदेश की कथ्य भाषा के साथ अनेक अंशों में जैसे सादृश्य था वैसे किसी किसी अंश में भेद भी था। जिस जिस अंश में इन भाषाओं का पंजाब और मध्यदेश की प्राकृत भाषा के साथ भेद था उसमें से जिन भिन्न भिन्न नामों ने और धातुओं ने प्राकृत-साहित्य में स्थान पाया है वे ही हैं प्राकृत के देशी वा देश्य शब्द।

---

* "नानाचर्मभिराच्छन्ना **नानाभाषाश्च** भारत। कुशला **देशभाषासु** जल्पन्तोऽन्योन्यमीश्वराः" (महाभारत, शल्यपर्व ४६, १०३)।
"अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि **देशभाषा**विकल्पनम्।"
"अथवा च्छन्दतः कार्या **देशभाषा** प्रयोक्तृभिः" (नाट्यशास्त्र १७, २४; ४६)।
"नात्यन्तं संस्कृतेनैव नात्यन्तं **देशभाषया**। कथां गोष्ठीषु कथयंल्लोके बहुमतो भवेत्" (कामसूत्र १,४,५०)।
"तते णं से मेहे कुमारे.....अट्ठारसविहिप्पगार**देसीभासा**विसारए.....होत्था"; "तत्थ णं चंपाए नयरीए देवदत्ता नाम गणिया परिवसइ अड्ढा..... **अट्ठारसदेसीभासा**विसारया" (ज्ञाताधर्मकथासूत्र, पत्र ३८; ९२)।
"तत्थ णं वाणियगामे कामज्झया णामं गणिया होत्था.....**अट्ठारसदेसी**भासाविसारया" (विपाकश्रुत, पत्र २१-२२)।
"तए णं से दढपइण्णे दारए.....**अट्ठारसदेसीभासा**विसारए" (औपपातिक सूत्र, पेरा १०९)।
"तए णं से दढपतिण्णे दारए.....**अट्ठारसविहदेसिप्पगारभासा**विसारए" (राजप्रश्नीयसूत्र, पत्र १४८)।

† "सिद्धं प्रसिद्धं प्राकृतं लेषा त्रिप्रकारं भवति—संस्कृतयोनि.....,संस्कृतसमं.....,देशीप्रसिद्धं तच्चेदं हर्षितं=लहसिअं" (प्राकृतलक्षण पृष्ठ १-२)।

प्राकृत-वैयाकरणों ने इन समस्त देश्य शब्दों में अनेक नाम और धातुओं को संस्कृत नामों के और धातुओं के स्थान में आदेश-द्वारा सिद्ध करके तद्भव-विभाग में अन्तर्गत किये हैं *। यही कारण है कि आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी देशीनाममाला में केवल देशी नामों का ही संग्रह किया है और देशी धातुओं का अपने प्राकृत-व्याकरण में संस्कृत धातुओं के आदेश-रूप में उल्लेख किया है; यद्यपि आचार्य हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती कई वैयाकरणों ने इनकी गणना देशी धातुओं में ही की है †। ये सब नाम और धातु संस्कृत के नाम और धातुओं के आदेश-रूप में निष्पन्न करने पर भी तद्भव नहीं कहे जा सकते, क्योंकि संस्कृत के साथ इनका कुछ भी सादृश्य नहीं है।

कोई कोई पाश्चात्य भाषातत्त्वज्ञ का यह मत है कि उक्त देशी शब्द और धातु भिन्न भिन्न देशों की द्राविड, मुण्डा आदि अनार्य भाषाओं से लिये गये हैं। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि यदि आधुनिक अनार्य भाषाओं में इन देशी-शब्दों और देशी-धातुओं का प्रयोग उपलब्ध हो तो यह अनुमान करना असंगत नहीं है। किन्तु जबतक यह प्रमाणित न हो कि 'ये देशी शब्द और धातु वर्तमान अनार्य भाषाओं में प्रचलित हैं', तबतक 'ये देशी शब्द और धातु प्रादेशिक आर्य भाषाओं से ही गृहीत हुए हैं' यह कहना ही अधिक संगत प्रतीत होता है। इन अनार्य भाषाओं में दोएक देश्य शब्द और धातु प्रचलित होने पर भी 'वे अनार्य भाषाओं से ही प्राकृत भाषाओं में लिये गये हैं' यह अनुमान न कर 'प्राकृत भाषाओं से ही वे देश्य शब्द और धातु अनार्य भाषाओं में गये हैं' यह अनुमान किया जा सकता है। हाँ, जहाँ ऐसा अनुमान करना असंभव हो वहाँ हम यह स्वीकार करने के लिए बाध्य होंगे कि 'ये देश्य शब्द और धातु अनार्य भाषाओं से ही प्राकृत में लिये गये हैं'; क्योंकि आर्य और अनार्य ये उभय जातियाँ जब एक स्थान में मिश्रित हो गई हैं तब कोई कोई अनार्य शब्द और धातु का आर्य भाषाओं में प्रवेश करना असंभव नहीं है।

डो. केल्डवेल (Caldwell) प्रभृति के मत में वैदिक और लौकिक संस्कृत में भी अनेक शब्द द्राविडीय भाषाओं से गृहीत हुए हैं। यह बात भी संदिग्ध ही है, क्योंकि द्राविडीय भाषा के जिस साहित्य में ये सब शब्द पाये जाते हैं वह वैदिक संस्कृत के साहित्य से प्राचीन नहीं है। इससे 'वैदिक साहित्य में ये सब शब्द द्राविडीय भाषा से गृहीत हुए हैं' इस अनुमान की अपेक्षा 'आर्य लोगों की भाषा से ही अनार्यों की भाषा में ये सब शब्द लिये गये हैं' यह अनुमान ही विशेष ठीक मालूम पड़ता है।

समय।

जिन प्रादेशिक देशी-भाषाओं से ये सब देशी शब्द प्राकृत-साहित्य में गृहीत हुए हैं वे पूर्वोक्त प्रथम स्तर की प्राकृत भाषाओं के अन्तर्गत और उनकी समसामयिक हैं। ख्रिस्त-पूर्व षष्ठ शताब्दी के पहले ये सब देशीभाषायें प्रचलित थीं, इससे ये देश्य शब्द अर्वाचीन नहीं, किन्तु उतने ही प्राचीन हैं जितने कि वैदिक शब्द।

द्वितीय स्तर की प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति—वैदिक या लौकिक संस्कृत से नहीं, किन्तु प्रथम स्तर की प्राकृतों से।

प्राकृत के वैयाकरण-गण प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति में प्रकृति शब्द का अर्थ संस्कृत करते हुए प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति लौकिक संस्कृत से मानते हैं। संस्कृत के कई अलंकार-शास्त्रों के टीकाकारों ने

---

* देखो हेमचन्द्र-प्राकृत-व्याकरण के द्वितीय पाद के १२७, १२९, १३४, १३५, १३८, १४१, १७४ वगैरः सूत्र और चतुर्थ पाद के २, ३, ४, ५, १०, ११, १२ प्रभृति सूत्र।

† "एते चाम्बेदेशीषु पठिता अपि अस्माभिर्धात्वादेशीकृताः" (हे० प्रा० ४, २) अर्थात् अन्य विद्वानों ने वज्जर, पज्जर, उप्पाल प्रभृति धातुओं का पाठ देशी में किया है, तो भी हमने संस्कृत धातु के आदेश-रूप से ही ये यहीं बताये हैं।

भी तद्भव और तत्सम शब्दों में स्थित 'तत्' शब्द का संबन्ध संस्कृत से लगाकर इसी मत का अनुसरण किया है *। कतिपय प्राकृत-व्याकरणों में प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति इस तरह की गई है :—

"प्रकृतिः संस्कृतं, तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्" (हेमचन्द्र प्रा० व्या०)।

"प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं प्राकृतमुच्यते" (प्राकृतसर्वस्व)।

"प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्" (प्राकृतचन्द्रिका)।

"प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता" (षड्भाषाचन्द्रिका)।

"प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः" (प्राकृतसंजीवनी)।

इन व्युत्पत्तिओं का तात्पर्य यह है कि प्राकृत शब्द 'प्रकृति' शब्द से बना है, 'प्रकृति' का अर्थ है संस्कृत भाषा, संस्कृत भाषा से जो उत्पन्न हुई है वह है प्राकृत भाषा।

प्राकृत वैयाकरणों की प्राकृत शब्द की यह व्याख्या अप्रामाणिक और अव्यापक ही नहीं है, भाषा-तत्त्व से असंगत भी है। अप्रामाणिक इस लिए कही जा सकती है कि प्रकृति शब्द का मुख्य अर्थ संस्कृत भाषा कभी नहीं होता—संस्कृत के किसी कोष में प्राकृत शब्द का यह अर्थ उपलब्ध नहीं है † और गौण या लाक्षणिक अर्थ तबतक नहीं लिया जाता जबतक मुख्य अर्थ में बाध न हो। यहाँ प्रकृति शब्द के मुख्य अर्थ स्वभाव अथवा ‡ जन-साधारण लेने में किसी तरह का बाध भी नहीं है। इससे उक्त व्युत्पत्ति के स्थान में "प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्" अथवा "प्रकृतीनां साधारणजनानामिदं प्राकृतम्" यही व्युत्पत्ति संगत और प्रामाणिक हो सकती है। अव्यापक कहने का कारण यह है कि प्राकृत के पूर्वोक्त तीन प्रकारों में तत्सम और तद्भव शब्दों की ही प्रकृति उन्होंने संस्कृत मानी है, तीसरे प्रकार के देश्य शब्दों की नहीं, अथच देश्य को भी प्राकृत कहा है। इससे देश्य प्राकृत में वह व्युत्पत्ति लागू नहीं होती। प्राकृत की संस्कृत से उत्पत्ति भाषा-तत्त्व के सिद्धान्त से भी संगति नहीं रखती, क्योंकि § वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत ये दोनों ही साहित्य की मार्जित भाषायें हैं। इन दोनों भाषाओं का व्यवहार शिक्षा की अपेक्षा रखता है। अशिक्षित, अज्ञ और बालक लोग किसी काल में साहित्य की भाषा का न तो स्वयं व्यवहार कर सकते हैं और न समझ ही पाते हैं। इस लिए समस्त देशों में सर्वदा ही अशिक्षित लोगों के व्यवहार के लिए एक कथ्य भाषा चालू रहती है जो साहित्य की भाषा से स्वतन्त्र—अलग—होती है। शिक्षित लोगों को भी अशिक्षित लोगों के साथ बातचीत के प्रसङ्ग में इस कथ्य भाषा का ही व्यवहार करना पड़ता है। वैदिक समय में भी ऐसी कथ्य भाषा प्रचलित थी। और, जिस समय लौकिक संस्कृत भाषा प्रचलित हुई उस समय भी साधारण लोगों की स्वतन्त्र कथ्य भाषा विद्यमान थी, यह नाटक आदि में संस्कृत भाषा के साथ प्राकृत-भाषी पात्रों के उल्लेख से प्रमाणित होता है।

पाणिनि ने संस्कृत भाषा को जो लौकिक भाषा कही है और पतञ्जलि ने इसको जो शिष्ट-भाषा का नाम दिया है, उसका मतलब यह नहीं है कि उस समय प्राकृत भाषा थी ही नहीं, परन्तु उसका अर्थ

---

* "प्रकृतेः संस्कृतादागतं प्राकृतम्" वाग्भटालंकारटीका २, २। "संस्कृतरूपायाः प्रकृतेरुत्पन्नत्वात् प्राकृतम्" काव्यादर्श की प्रेमचन्द्रतर्कवागीश-कृत टीका १, ३३।

† "प्रकृतिर्योनिशिल्पिनोः। पौरामात्यादिलिङ्गेषु गुणसाम्यस्वभावयोः। प्रत्ययात् पूर्विकायां च" (अनेकार्थसंग्रह ८७६-७)।

‡ "स्वाम्यमात्यः सुहृत्कोशो राष्ट्रदुर्गबलानि च।
राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च ॥" (अभिधानचिन्तामणि ३, ३७८)।
"यत् काण्ड्यः—अमात्याद्याश्च पौराश्च सङ्घिः प्रकृतयः स्मृताः" (अ०चि० ३, ३७८ की टीका)।

§ कोई कोई आधुनिक विद्वान प्राकृत भाषा की उत्पत्ति वैदिक संस्कृत से मानते हैं, देखो पाली-प्रकाश का प्रवेशक पृष्ठ ३४-३६।

यह है कि उस समय के शिक्षित लोगों के आपस के वार्तालाप में, वर्तमान काल के पण्डित लोगों में संस्कृत की तरह, और भिन्नदेशीय लोगों के साथ के व्यवहार में Lingua Franca की माफिक संस्कृत भाषा व्यवहृत होती थी। किन्तु बालक, स्त्रियाँ और अशिक्षित लोग अपनी मातृ-भाषा में बातचीत करते थे जो संस्कृत-भिन्न साधारण कथ्य भाषा थी। साधारण कथ्य भाषा किसी देश में किसी काल में साहित्य की भाषा से गृहीत नहीं होती, बल्कि साहित्य-भाषा ही जन-साधारण की कथ्य भाषा से उत्पन्न होती है। इसलिए 'संस्कृत से प्राकृत भाषा की उत्पत्ति हुई है' इसकी अपेक्षा 'क्या तो वैदिक संस्कृत और क्या लौकिक संस्कृत, दोनों ही उस उस समय की प्राकृत भाषाओं से उत्पन्न हुई हैं' यही सिद्धान्त विशेष युक्ति-संगत है। आजकल के भाषा-तत्त्वज्ञों में इसी सिद्धान्त का अधिक आदर देखा जाता है। यह सिद्धान्त पाश्चात्य विद्वानों का कोई नूतन आविष्कार नहीं है, भारतवर्ष के ही प्राचीन भाषातत्त्वज्ञों में भी यह मत प्रचलित था यह निम्नोद्धृत कतिपय प्राचीन ग्रन्थों के अवतरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है। रुद्रट-कृत काव्यालङ्कार के एक * श्लोक की व्याख्या में ख्रिस्त की ग्यारहवीं शताब्दी के जैन विद्वान नमिसाधु ने लिखा है कि :—

"प्राकृतेति। सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचन-व्यापारः प्रकृतिः, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। 'आरिसवयणे सिद्धं देवाणं अद्धमागहा वाणी' इत्यादिवचनाद् वा प्राक् पूर्वं कृतं प्राक्कृतं बाल-महिलादि-सुबोधं सकलभाषानिबन्धनभूतं वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात् संस्कारकरणाच्च समासादित-विशेषं सत् संस्कृताद्युत्तरविभेदानाप्नोति। अतएव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्टं तदनु संस्कृतादीनि। पाणिन्यादि-व्याकरणोदितशब्दलक्षणेन संस्क्रियमाणात् संस्कृतमुच्यते।"

इस व्याख्या का तात्पर्य यह है कि—'प्रकृति शब्द का अर्थ है लोगों का व्याकरण आदि के संस्कारों से रहित स्वाभाविक वचन-व्यापार, उससे उत्पन्न अथवा वही है प्राकृत। अथवा, 'प्राक् कृत' पर से प्राकृत शब्द बना है, 'प्राक् कृत' का अर्थ है 'पहले किया गया'। बारह अंग-ग्रन्थों में ग्यारह अंग ग्रन्थ पहले किये गये हैं और इन ग्यारह अङ्ग-ग्रन्थों की भाषा आर्ष-वचन में—सूत्र में—अर्धमागधी कही गई है ‡ जो बालक, महिला आदि को सुबोध—सहज-गम्य—है § और जो सकल भाषाओं का मूल है। यह अर्धमागधी भाषा ही प्राकृत है। यही प्राकृत, मेघ-मुक्त जल की तरह, पहले एक रूप वाला होने पर भी, देश-भेद से और संस्कार करने से भिन्नता को प्राप्त करता हुआ संस्कृत आदि अवान्तर विभेदों में परिणत हुआ है अर्थात् अर्धमागधी प्राकृत से संस्कृत और अन्यान्य प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति हुई है। इसी कारण से मूल ग्रन्थकार (रुद्रट) ने प्राकृत का पहले और संस्कृत

---

* "प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च शौरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः॥" (काव्यालंकार २, १२)।

‡ बारहवाँ अङ्ग-ग्रन्थ, जिसका नाम दृष्टिवाद है और जिसमें चौदह पूर्व (प्रकरण) थे, संस्कृत भाषा में था। यह बहुत काल से लुप्त हो गया है। यद्यपि इसके विषयों का संक्षिप्त वर्णन समवायाङ्ग सूत्र में है।
"चतुर्दशापि पूर्वाणि संस्कृतानि पुराऽभवन्॥११४॥
प्रज्ञातिशयसाध्यानि तान्युच्छिन्नानि कालतः। अधुनैकादशाङ्ग्यस्ति सुधर्मस्वामिभाषिता॥ ११५॥
बालस्त्रीमूढमूर्खादिजनानुग्रहणाय सः। प्राकृतां तामिहाकार्षीत्" (प्रभावकचरित्र, पृ० ९८-९९)।

§ "सुत्तं गणहरकहियं तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च।
सुयकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्वकहियं च॥
थीबालवायणत्थं पायसमुद्दियं जिणवरेहिं॥"
(आचारदिनकर में उद्धृत प्राचीन गाथा)।
"बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां नृणां चारित्रकाङ्क्षिणाम्। अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः॥"
(दशवैकालिक टीका पत्र १०० में हरिभद्रसूरि ने और काव्यानुशासन की टीका (पृ० १) में आचार्य हेमचन्द्र ने उद्धृत किया हुआ प्राचीन श्लोक)।

आदि का बाद में निर्देश किया है। पाणिन्यादि व्याकरणों में बताये हुए नियमों के अनुसार संस्कार पाने के कारण संस्कृत कहलाती है।'

"अकृत्त्रिमस्वादुपदैर्जनं जनं जिनेन्द्र सान्त्वादिव पासि भाषितैः" (द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका १, १८)।

" * अकृत्त्रिमस्वादुपदां जैनीं वाचमुपास्महे।" (हेमचन्द्रकाव्यानुशासन, पृष्ठ १)।

उक्त पद्यों में क्रमशः महाकवि सिद्धसेन दिवाकर और आचार्य हेमचन्द्र जैसे समर्थ विद्वानों का जिनदेव की वाणी को 'अकृत्त्रिम' और संस्कृत भाषा को 'कृत्त्रिम' कहने का भी रहस्य यही है कि प्राकृत जन-साधारण की मातृभाषा होने के कारण अकृत्त्रिम—स्वाभाविक है और संस्कृत भाषा व्याकरण के संस्कार-रूप बनावटीपन से पूर्ण होने के हेतु कृत्त्रिम है।

केवल जैन विद्वानों में ही यह मत प्रचलित न था, ख्रिस्त की आठवीं शताब्दी के जैनेतर महाकवि वाक्पतिराज ने भी अपने 'गउडवहो' नामक महाकाव्य में इसी मत को इन स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है:—

" § सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो य णेंति वायाओ।
एंति समुद्दं चिय णेंति सायराओ चिय जलाइं ॥९३॥"

अर्थात् इसी प्राकृत भाषा में सब भाषायें प्रवेश करती हैं **और** इस प्राकृत भाषा से ही सब भाषायें निर्गत हुई हैं; जल (आ कर) समुद्र में ही प्रवेश करता है और समुद्र से ही (वाष्प रूप से) बाहर होता है। वाक्पति के इस पद्य का मर्म यही है कि प्राकृत भाषा की उत्पत्ति अन्य किसी भाषा से नहीं हुई है, बल्कि संस्कृत आदि सब भाषायें प्राकृत से ही उत्पन्न हुई हैं।

ख्रिस्त की नवम शताब्दी के जैनेतर कवि राजशेखर ने भी अपनी बालरामायण में नीचे का श्लोक लिखकर यही मत प्रकट किया है:—

"यद् योनिः किल संस्कृतस्य सुदृशां जिह्वासु यन्मोदते, यत्र श्रोत्रपथावतारिणि कटुर्भाषान्तराणां रसः।
गद्यं चूर्णपदं पदं रतिपतेस्तत् प्राकृतं यद्वचस्तँल्लाटँल्ललिताङ्गि पश्य नुदती दृष्टेर्निमेषव्रतम् ॥" (४८, ४९)।

जैन और जैनेतर विद्वानों के उक्त वचनों से यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल के भारतीय भाषातत्त्वज्ञों में भी यह मत प्रबल रूप से प्रचलित था कि प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत भाषा से नहीं है।

प्राकृत भाषा लौकिक संस्कृत से उत्पन्न नहीं हुई है इसका और भी एक प्रबल प्रमाण है। वह यह कि प्राकृत के अनेक शब्द और प्रत्ययों का लौकिक संस्कृत की अपेक्षा वैदिक भाषा के साथ अधिक मेल देखने में आता है। प्राकृत भाषा साक्षाद्रूप से लौकिक संस्कृत से उत्पन्न होने पर यह कभी संभवपर नहीं हो सकता। वैदिक साहित्य में भी प्राकृत के अनुरूप अनेक शब्द और प्रत्ययों के प्रयोग विद्यमान हैं।

---

* "अकृत्त्रिमाणि—असंस्कृतानि, अत एव स्वादूनि मन्दधियामपि पेशलानि पदानि यस्यामिति विग्रहः" (काव्यानुशासनटीका)। आचार्य हेमचन्द्र की 'अकृत्त्रिम' शब्द की इस स्पष्ट व्याख्या से प्रतीत होता है कि उनका अपने प्राकृत-व्याकरण में प्राकृत की प्रकृति संस्कृत कहना सिद्धान्त-निरूपण के लक्ष्य से नहीं, परन्तु अपने प्राकृत-व्याकरण की रचना-शैली के उपलक्ष में है, क्योंकि सभी उपलब्ध प्राकृत-व्याकरणों की तरह हेमचन्द्र-प्राकृत-व्याकरण में भी संस्कृत पर से ही प्राकृत-शिक्षा की पद्धति अख्तियार की गई है और इस पद्धति में प्रकृति—मूल—के स्थान में संस्कृत को रखना अनिवार्य हो जाता है। अथवा, यह भी असंभव नहीं है कि व्याकरण-रचना के समय उनका यही सिद्धान्त रहा हो जो बाद में बदल गया हो और इस परिवर्तित सिद्धान्त का काव्यानुशासन में प्रतिपादन किया हो। काव्यानुशासन की रचना व्याकरण के बाद उन्होंने की है यह काव्यानुशासन की "शब्दानुशासनेऽस्माभिः साध्व्यो वाचो विवेचिताः" (पृष्ठ २) इस उक्ति से ही सिद्ध है।

§ सकला इदं वाचो विशन्तीतश्च निर्यन्ति वाचः। आयान्ति समुद्रमेव निर्यान्ति सागरादेव जलानि ॥ ९३ ॥

इससे यह अनुमान करना किसी तरह असंगत नहीं है कि वैदिक संस्कृत और प्राकृत ये दोनों ही एक प्राचीन प्राकृत भाषा से उत्पन्न हुई हैं और यही इस सादृश्य का कारण है। वैदिक भाषा और प्राकृत के सादृश्य के कतिपय उदाहरण हम नीचे उद्धृत करते हैं, ताकि उक्त कथन की सत्यता में कोई संदेह नहीं हो सकता।

वैदिक भाषा और प्राकृत में सादृश्य।

१। प्राकृत में अनेक जगह संस्कृत ऋकार के स्थान में उकार होता है, जैसे—वृन्द=वुन्द, ऋतु=उउ, पृथिवी=पुहवी; वैदिक साहित्य में भी ऐसे प्रयोग पाये जाते हैं, जैसे—कृत=कुठ (ऋग्वेद १, ४६, ४)।

२। प्राकृत में संयुक्त वर्ण वाले कई स्थानों में एक व्यञ्जन का लोप होकर पूर्व के ह्रस्व स्वर का दीर्घ होता है, जैसे—दुर्लभ=दूलह, विश्राम=वीसाम, स्पर्श=फास; वैदिक भाषा में भी वैसा होता है, यथा—दुर्लभ=दूळभ (ऋग्वेद ४, ६, ८), दुर्णाश=दूणाश (शुक्लयजुःप्रातिशाख्य ३, ४३)।

३। संस्कृत व्यञ्जनान्त शब्दों के अन्त्य व्यञ्जन का प्राकृत में सर्वत्र लोप होता हैं, जैसे—तावत्=ताव, यशस्=जस; वैदिक साहित्य में भी इस नियम का अभाव नहीं है, यथा—पश्चात्=पश्चा (अथर्ववसंहिता १०, ४, ११), उच्चात्=उच्चा (तैत्तिरीयसंहिता २, ३, १४), नीचात्=नीचा (तैत्तिरीयसंहिता १, २, १४)।

४। प्राकृत में संयुक्त र और य का लोप होता है, जैसे—प्रगल्भ=पगब्भ, श्यामा=सामा; वैदिक साहित्य में भी यह पाया जाता है, यथा—अ-प्रगल्भ=अ-पगल्भ (तैत्तिरीयसंहिता ४, ५, ६१); त्र्यच=त्रिच (शतपथब्राह्मण १, ३, ३, ३३)।

५। प्राकृत में संयुक्त वर्ण का पूर्व स्वर ह्रस्व होता है, यथा—पात्र=पत्र, रात्रि=रत्ति, साध्य=सज्झ इत्यादि; वैदिक भाषा में भी ऐसे प्रयोग हैं, जैसे—रोदसीप्रा=रोदसिप्रा (ऋग्वेद १०, ८८, १०), अमात्र=अमत्र (ऋग्वेद ३, ३६, ४)।

६। प्राकृत में संस्कृत द का अनेक जगह ड होता है, जैसे—दण्ड=डण्ड, दंस=डंस, दोला=डोला; वैदिक साहित्य में भी ऐसे प्रयोग दुर्लभ नहीं है; जैसे—दुर्दभ=दूडभ (वाजसनेयिसंहिता ३, ३६), पुरोदाश=पुरोडाश (शुक्लयजुःप्रातिशाख्य ३, ४४)।

७। प्राकृत में ध का ह होता है, यथा—बधिर=बहिर, व्याध=वाह; वेद-भाषा में भी ऐसा पाया जाता है, जैसे—प्रतिसंधाय=प्रतिसंहाय (गोपथब्राह्मण २, ४)।

८। प्राकृत में अनेक शब्दों में संयुक्त व्यञ्जनों के बीच में स्वर का आगम होता है, जैसे—क्लिष्ट=किलिट्ठ, स्व=सुव, तन्वी=तणुवो; वैदिक साहित्य में भी ऐसे प्रयोग विरल नहीं है, यथा—सहस्र्यः=सहस्रियः, स्वर्गः=सुवर्गः (तैत्तिरीयसंहिता ४, २, ३) तन्वः=तनुवः, स्वः=सुवः (तैत्तिरीयआरण्यक ७, २२, १; ६, २, ७)।

९। प्राकृत में अकारान्त पुंलिङ्ग शब्द के प्रथमा के एकवचन में ओ होता है, जैसे—देवो, जिणो, सो इत्यादि; वैदिक भाषा में भी प्रथमा के एकवचन में कहीं कहीं ओ देखा जाता है, यथा—संवत्सरो अजायत (ऋग्वेदसंहिता १०, १६०, २), सो चित् (ऋग्वेदसंहिता १, १६१, १०-११)।

१०। तृतीया विभक्ति के बहुवचन में प्राकृत में देव आदि अकारान्त शब्दों के रूप देवेहि, गंभीरेहि, जेट्ठेहि आदि होते हैं; वैदिक साहित्य में भी इसीके अनुरूप देवेभिः, गम्भीरेभिः, ज्येष्ठेभिः आदि रूप मिलते हैं।

११। प्राकृत की तरह वैदिक भाषा में भी चतुर्थी के स्थान में षष्ठी विभक्ति होती है *।

---

* "चतुथ्यर्थे बहुलं छन्दसि" (पाणिनि-व्याकरण २, ३, ६२)।

१२। प्राकृत में पञ्चमी के एकवचन में देवा, वच्छा, जिणा आदि रूप होते हैं; वैदिक साहित्य में भी इसी तरह के उच्चा, नीचा, पश्चा प्रभृति उपलब्ध होते हैं।

१३। प्राकृत में द्विवचन के स्थान में बहुवचन ही होता है; वैदिक भाषा में भी इस तरह के अनेकों प्रयोग मौजुद हैं, यथा—'इन्द्रावरुणौ' के स्थान में 'इन्द्रावरुणा', 'मित्रावरुणौ' की जगह 'मित्रावरुणा', 'यौ सुरथौ रथितमौ दिविस्पृशावश्विनौ' के बदले 'या सुरथा रथीतमा दिविस्पृशा अश्विना', 'नरौ हे' के स्थल में 'नरा हे' आदि।

इस तरह अनेक युक्ति और प्रमाणों से यह साबित होता है कि प्राकृत की उत्पत्ति वैदिक अथवा लौकिक संस्कृत से नहीं, किन्तु वैदिक संस्कृत की उत्पत्ति जिस प्रथम स्तर की प्रादेशिक प्राकृत भाषा से पूर्व में कही गई है उसीसे हुई है। इससे यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि संस्कृत के अनेक आलंकारिकों ने और प्राकृत के प्रायः समस्त वैयाकरणों ने 'तत्' शब्द से संस्कृत को लेकर 'तद्भव' शब्द का जो व्यवहार 'संस्कृतभव' अर्थ में किया है वह किसी तरह संगत नहीं हो सकता। इसलिए वहाँ 'तत्' शब्द से संस्कृत के स्थान में वैदिक काल के प्राकृत का ग्रहण कर 'तद्भव' शब्द का प्रयोग 'वैदिक काल के प्राकृत से जो शब्द संस्कृत में लिया गया है उससे उत्पन्न' इसी अर्थ में करना चाहिए। संस्कृत शब्द और प्राकृत तद्भव शब्द इन दोनों का साधारण मूल वैदिक काल का प्राकृत अर्थात् पूर्वोक्त प्राथमिक प्राकृत या प्रथम स्तर का प्राकृत है। इससे जहाँ पर 'तद्भव' शब्द का सैद्धान्तिक अर्थ 'संस्कृतभव' नहीं, किन्तु 'वैदिक काल के प्राकृत से उत्पन्न' यही समझना चाहिए।

द्वितीय स्तर की प्राकृत भाषाओं का उत्पत्ति-क्रम और उनके प्रधान भेद।

जब उपर्युक्त कथन के अनुसार वैदिक तथा लौकिक संस्कृत और समस्त प्राकृत भाषाओं का मूल एक ही है और वैदिक तथा लौकिक संस्कृत द्वितीय स्तर की सभी प्राकृत भाषाओं से प्राचीन है, तब यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि द्वितीय स्तर की प्राकृत भाषाओं के उत्पत्ति-क्रम का निर्णय एकमात्र उसी सादृश्य के तारतम्य पर निर्भर करता है जो उभय संस्कृत और प्राकृत तद्भव शब्दों में पाया जाता है। जिस प्राकृत भाषा के तद्भव शब्दों का वैदिक और लौकिक संस्कृत के साथ जितना अधिक सादृश्य होगा वह उतनी ही प्राचीन और जिसके तद्भव शब्दों का उभय संस्कृत के साथ जितना अधिक भेद होगा वह उतनी ही अर्वाचीन मानी जा सकती है, क्योंकि अधिक भेद के उत्पन्न होने में समय भी अधिक लगता है यह निर्विवाद है।

द्वितीय स्तर की जिन प्राकृत भाषाओं ने साहित्य में अथवा शिलालेखों में स्थान पाया है उनके शब्दों की वैदिक और लौकिक संस्कृत के साथ, उपर्युक्त पद्धति से तुलना करने पर, जो भेद (पार्थक्य) देखने में आते हैं उनके अनुसार द्वितीय स्तर की प्राकृत भाषाओं के निम्नोक्त प्रधान भेद (प्रकार) होते हैं जो क्रम से इन तीन मुख्य काल-विभागों में बाँटे जा सकते हैं;—(१) प्रथम युग—ख्रिस्त-पूर्व चारसौ से ले कर ख्रिस्त के बाद एक सौ वर्ष तक (400 B. C. to 100 A. D.); (२) मध्ययुग—ख्रिस्त के बाद एक सौ से पाँच सौ वर्ष तक (100 A. D. to 500 A. D.); (३) शेष युग—ख्रिस्तीय पाँच सौ से एक हजार वर्ष तक (500 A. D to 1000 A. D.)।

प्रथम युग (ख्रिस्त-पूर्व ४०० से ख्रिस्त के बाद १००)।

(क) हीनयान बौद्धों के त्रिपिटक, महावंश और जातक-प्रभृति ग्रन्थों की पाली भाषा।

(ख) पैशाची और चूलिकापैशाची।

(ग) जैन अंग-ग्रन्थों की अर्धमागधी भाषा।
(घ) अंग-ग्रन्थ-भिन्न प्राचीन सूत्रों की और पउम-चरिअ आदि प्राचीन ग्रन्थों की जैन महाराष्ट्री भाषा।
(ङ) अशोक-शिलालेखों की एवं परवर्ति-काल के प्राचीन शिलालेखों की भाषा।
(च) अश्वघोष के नाटकों की भाषा।

मध्ययुग (खिस्तीय १०० से ५००)।

(क) त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित भास-रचित कहे जाते नाटकों की और बाद के कालिदास-प्रभृति के नाटकों की शौरसेनी, मागधी और महाराष्ट्री भाषायें।
(ख) सेतुबन्ध, गाथासप्तशती आदि काव्यों की महाराष्ट्री भाषा।
(ग) प्राकृत व्याकरणों में जिनके लक्षण और उदाहरण पाये जाते हैं वे महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिकापैशाची भाषायें।
(घ) दिगम्बर जैन ग्रन्थों की शौरसेनी और परवर्ति-काल के श्वेताम्बर ग्रन्थों की जैन महाराष्ट्री भाषा।
(ङ) चंड के व्याकरण में निर्दिष्ट और विक्रमोर्वशी में प्रयुक्त अपभ्रंश भाषा।

शेष युग (खिस्तीय ५०० से १००० वर्ष)।

भिन्न भिन्न प्रदेशों की परवर्ती काल की अपभ्रंश भाषायें।

अब इन तीन युगों में विभक्त प्रत्येक भाषा का लक्षण और विशेष विवरण, उक्त क्रम के अनुसार (१) पालि (२) पैशाची (३) चूलिकापैशाची (४) अर्धमागधी (५) जैन महाराष्ट्री (६) अशोक-लिपि (७) शौरसेनी (८) मागधी (९) महाराष्ट्री (१०) अपभ्रंश इन शीर्षकों में क्रमशः दिया जाता है।

---

(१) पालि।

निर्देश और व्युत्पत्ति।

हीनयान बौद्धों के धर्म-ग्रन्थों की भाषा को पालि कहते हैं। कई विद्वानों का अनुमान है कि पालि शब्द 'पङ्क्ति' पर से बना है *। 'पङ्क्ति' शब्द का अर्थ है 'श्रेणी' §। प्राचीन बौद्ध लेखक अपने ग्रन्थ में धर्म-शास्त्र की वचन-पङ्क्ति को उद्धृत करते समय इसी पालि शब्द का प्रयोग करते थे, इससे बाद के समय में बौद्ध धर्म-शास्त्रों की भाषा का ही नाम पालि हुआ। अन्य विद्वानों का मत है कि पालि शब्द 'पङ्क्ति' पर से नहीं, परन्तु 'पल्लि' पर से हुआ है। 'पल्लि' शब्द असल में संस्कृत नहीं, परन्तु प्राकृत है, यद्यपि अन्य अनेक प्राकृत शब्दों की तरह यह भी पीछे से संस्कृत में लिया गया है। पल्लि शब्द जैनों के प्राचीन अंग-ग्रन्थों में भी पाया जाता है ÷। 'पल्लि' शब्द का अर्थ है ग्राम या गाँव। 'पालि' का अर्थ गावों में बोली जाती भाषा—ग्राम्य भाषा—होता है। 'पङ्क्ति' पर से 'पालि' होने की कल्पना जितनी क्लेश-साध्य है 'पल्लि' पर से 'पालि' होना उतना ही सहज-बोध्य है। इससे हमें पिछला मत ही अधिक संगत मालूम होता है। 'पालि' केवल ग्रामों की ही भाषा थी, इससे उसका यह

---

* "पङ्क्ति=पंक्ति=पंति=पयिट=पंटि=पंलि=पल्लि=पालि; अथवा पङ्क्ति=पत्ति=पट्टि=पल्लि=पालि" (पालिप्रकाश, प्रवेशक, पृष्ठ ९)।

§ "सेतुस्सिं तन्तिपन्तीसु नालियं पालि कथ्यते" (अभिधानप्रदीपिका ९९६)।

÷ देखो विपाकश्रुत पत्र ३८, ३९)।

नाम हुआ है यह बात नहीं है। बल्कि प्रदेश-विशेष के ग्रामों के तरह शहरों के भी जन-साधारण की यह भाषा थी, परन्तु संस्कृत के अनन्य-भक्त ब्राह्मणों की ही ओर से इस भाषा के तरफ अपनी स्वाभाविक घृणा × को व्यक्त करने के लिए इसका यह नाम दिया जाना और अधिक प्रसिद्ध हो जाने के कारण पीछे से बौद्ध विद्वानों का भी मागधी की जगह इस शब्द का प्रयोग करना आश्चर्य-जनक नहीं जान पड़ता।

उक्त प्राकृत भाषा-समूह में पालि भाषा के साथ वैदिक संस्कृत का अधिक सादृश्य देखा जाता है। इसी कारण से द्वितीय स्तर की प्राकृत भाषाओं में पालि भाषा सर्वापेक्षा प्राचीन मालूम पड़ती है।

उत्पत्ति-स्थान

पालि भाषा के उत्पत्ति-स्थान के बारे में विद्वानों का मत-भेद है। बौद्ध लोग इसी भाषा को मागधी कहते हैं और उनके मत से इस भाषा का उत्पत्ति-स्थान मगध देश है। परन्तु इस भाषा का मागधी प्राकृत के साथ कोई सादृश्य नहीं है। डो. कोनो (Dr. Konow) और सर ग्रियर्सन ने इस भाषा का पैशाची भाषा के साथ सादृश्य देखकर पैशाची भाषा जिस देश में प्रचलित थी उसी देश को इसका उत्पत्ति-स्थान बताया है, यद्यपि पैशाची भाषा के उत्पत्ति-स्थान के विषय में इन दोनों विद्वानों का मतैक्य नहीं है। डो. कोनो के मत में पैशाची भाषा का उत्पत्ति-स्थान विन्ध्याचल का दक्षिण प्रदेश है और सर ग्रियर्सन का मत यह है कि 'इसका उत्पत्ति-स्थान भारतवर्ष का उत्तर-पश्चिम प्रान्त है; वहाँ उत्पन्न होने के बाद संभव है कि कोकण-प्रदेश-पर्यन्त इसका विस्तार हुआ हो और वहाँ इससे पाली भाषा की उत्पत्ति हुई हो।' परन्तु पालि भाषा अशोक के गूजरात-प्रदेश-स्थित गिरनार के शिलालेख के अनुरूप होने के कारण यह मगध में नहीं, किन्तु 'भारतवर्ष के पश्चिम प्रान्त में उत्पन्न हुई है और वहाँ से सिंहल देश में ले जाई गई है' यही मत विशेष संगत प्रतीत होता है, क्योंकि निम्नोक्त उदाहरणों से पालि-भाषा का गिरनार-शिलालेख के साथ सादृश्य और पूर्व-प्रान्त-स्थित धौलि (खंडगिरि) शिलालेख के साथ पार्थक्य देखा जाता है;—

संस्कृत	पाली	गिरनारशिला०	धौलिशिला०
राज्ञः	राजिनो, रञ्ञो	राञो	लजिने
कृतम्	कतं	कतं	कडे

इस विषय में डो. सुनीतिकुमार चटर्जी का कहना है कि "÷ बुद्धदेव के समस्त उपदेश मागधी भाषा से बाद के समय में मध्यदेश (Doab) की शौरसेनी प्राकृत में अनुवादित हुए थे और वे ही खिस्त-पूर्व प्रायः दो सौ वर्ष से पालि-भाषा के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।" किन्तु सच तो यह है कि पालि भाषा का शौरसेनी और मागधी की अपेक्षा पैशाची के साथ ही अधिक सादृश्य है जो निम्नोक्त उदाहरणों से स्पष्ट जाना जाता है।

संस्कृत	पालि	पैशाची	शौरसेनी	मागधी
* क § (लोक)	क (लोक)	क (लोक)	० (लोअ)	० (लोअ)
* ग (नग)	ग (नग)	ग (नग)	० (णअ)	० (णअ)

× "लोकायतं कुतर्कं च प्राकृतं म्लेच्छभाषितम्।
न श्रोतव्यं द्विजेनैतदधो नयति तद् द्विजम्" (गरुडपुराण, पूर्वखण्ड ९८, १७)।

÷ The Origine and Development of the Bengalee Language, VoL. I, page 57.

§ इन उदाहरणों में प्रथम वह अक्षर दिया गया है जिसका उस उस भाषा के नीचे दिये गये अक्षर में परिवर्तन होता है और अक्षर के बाद ब्राकेट में उसी अक्षर वाला शब्द स्पष्टता के लिए दिया गया है।

* स्वर वर्णों के मध्यवर्ती असंयुक्त वर्ण।

संस्कृत	पालि	पैशाची	शौरसेनी	मागधी
* च (शची)	च (सची)	च (सची)	० (सई)	० (शई)
* ज (रजत)	ज (रजत)	ज (रजत)	० (रअद)	० (लअद)
* त (कृत)	त (कत)	त (कत)	द (कद)	ड (कड)
र (कर)	र (कर)	र (कर)	र (कर)	ल (कल)
श (वश)	स (वस)	स (वस)	स (वस)	श (वश)
ष (मेष)	स (मेस)	स (मेस)	स (मेस)	श (मेश)
स (सारस)	स (सारस)	स (सारस)	स (सारस)	श (शालश)
न (वचन)	न (वचन)	न (वचन)	ण (वअण)	ण (वअण)
ट्ट (पट्ट)	ट्ट (पट्ट)	ट्ट (पट्ट)	ट्ट (पट्ट)	स्ट (पस्ट)
र्थ (अर्थ)	त्थ (अत्थ)	त्थ (अत्थ)	त्थ (अत्थ)	स्त (अस्त)
† स् (वृत्तः)	ओ (रुक्खो)	ओ (रुक्खो)	ओ (रुक्खो)	ए (लुक्खे)

उत्पत्ति-समय।

पालि भाषा की उत्पत्ति का समय ख्रिस्त के पूर्व षष्ठ शताब्दी कहा जाता है, किन्तु वह काल बुद्धदेव की सम-सामयिक कथ्य मागधी भाषा का हो सकता है। पालि कथ्य भाषा नहीं, परन्तु बौद्ध धर्म-साहित्य की भाषा है। संभवतः यह भाषा ख्रिस्त के पूर्व चतुर्थ या पञ्चम शताब्दी में पश्चिम भारत में उत्पन्न हुई थी।

इस पालि-भाषा से आधुनिक सिंहली भाषा की उत्पत्ति हुई है।

प्राकृत शब्द से साधारणतः पालि-भिन्न अन्य भाषायें ही समझी जाती हैं। इससे, और पालि भाषा के अनेक स्वतन्त्र कोष होने से, प्रस्तुत कोष में पालि भाषा के शब्दों को स्थान नहीं दिया गया है। इस लिए पालि भाषा की विशेष आलोचना करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

---

(२) पैशाची।

निदर्शन।

गुणाढ्य ने ‡ बृहत्कथा पैशाची भाषा में लिखी थी, जो लुप्त हो गई है। इस समय पैशाची भाषा के उदाहरण प्राकृतप्रकाश, आचार्य हेमचन्द्र का प्राकृतव्याकरण, षड्भाषाचन्द्रिका, प्राकृत-सर्वस्व और संक्षिप्तसार आदि प्राकृत-व्याकरणों में, आचार्य हेमचन्द्र के कुमारपाल-चरित तथा § काव्यानुशासन में, मोहराजपराजय-नामक नाटक में और दोएक षड्भाषास्तोत्रों में मिलते हैं।

भरत के नाट्यशास्त्र में पैशाची नाम का उल्लेख देखने में नहीं आता है, परन्तु इसके परवर्ती ÷ रुद्रट, × केशवमिश्र आदि संस्कृत के आलंकारिकों ने इसका उल्लेख किया है। वाग्भट ने इस भाषा को $ 'भूतभाषित' के नाम से अभिहित की है।

---

* स्वर वर्णों के मध्यवर्ती असंयुक्त वर्ण। † पुंलिंग में प्रथमा के एकवचन का प्रत्यय।

‡ आचार्य उद्द्योतन की कुवलय-माला में, दण्डी के काव्यादर्श में, बाण के हर्षचरित में, धनञ्जय के दशरूपक में, सुबन्धु की वासवदत्ता में और अन्यान्य प्राकृत-संस्कृत ग्रन्थों में इसका उल्लेख पाया जाता है। क्षेमेन्द्र-कृत बृहत्कथामञ्जरी और सोमदेवभट्ट-प्रणीत कथासरित्सागर इसी बृहत्कथा का संस्कृत अनुवाद है। इस बृहत्कथा के ही भिन्न भिन्न अंशों के आधार पर बाण, श्रीहर्ष, भवभूति आदि संस्कृत के महाकविओं के कादम्बरी, रत्नावली, मालतीमाधव-प्रभृति अनेक संस्कृत ग्रन्थों की रचना की गई है।

§ पृष्ठ २२६; २३३। ÷ काव्यालङ्कार २, १२। × "संस्कृतं प्राकृतं चैव पैशाची मागधी तथा" (अलङ्कार-शेखर, पृष्ठ ५)। $ "संस्कृतं प्राकृतं तस्यापभ्रंशो भूतभाषितम्" (वाग्भटालङ्कार २, १)।

विनियोग।

* वाग्भट तथा † केशवमिश्र ने क्रम से भूत और पिशाच-प्रभृति पात्रों के लिए और ‡ षड्भाषा-चन्द्रिकाकार ने राक्षस, पिशाच और नीच पात्रों के लिए इसका विनियोग बतलाया है।

उत्पत्ति-स्थान।

षड्भाषाचन्द्रिकाकार पिशाच-देशों की भाषा को ही पैशाची कहते हैं और पिशाच-देशों के निर्देश के लिए नीचे के श्लोकों को उद्धृत करते हैं :—

" § पाण्ड्यकेकयवाह्लीकसह्यनेपालकुन्तलाः।
सुधेष्णाभोजगान्धारहैवकन्नोजनास्तथा।
एते पिशाचदेशाः स्युः "

मार्कण्डेय ने अपने प्राकृतसर्वस्व में प्राकृतचन्द्रिका के

"काञ्चीदेशीयपाण्ड्ये च पाञ्चालं गौड-मागधम्।
व्राचडं दाक्षिणात्यं च शौरसेनं च कैकयम्॥
शाबरं द्राविडं चैव एकादश पिशाचजाः।"

इस वचन को उद्धृत कर ग्यारह प्रकार की पैशाची का उल्लेख किया है; परन्तु बाद में इस मत का खण्डन करके सिद्धान्त रूप से इन तीन प्रकार की पैशाची का ग्रहण किया है; यथा—"कैकयं शौरसेनं च पाञ्चालमिति चत्रिधा पैशाच्यः"।

लक्ष्मीधर और मार्कण्डेय ने जिन प्राचीन वचनों का उल्लेख किया है उनमें पाण्ड्य, काञ्ची और कैकय आदि प्रदेश एक दूसरे से अतिदूरवर्ती प्रान्तों में अवस्थित हैं। इतने दूरवर्ती प्रदेश एकदेशीय भाषा के उत्पत्ति-स्थान कैसे हो सकते हैं? यदि पैशाची भाषा किसी प्रदेश की भाषा न हो कर भिन्न भिन्न प्रदेशों में रहने वाली किसी जाति-विशेष की भाषा हो तो इसका संभव इस तरह हो भी सकता है कि पूर्वकाल में किसी एक देश-विशेष में रहने वाली पिशाच-प्राय मनुष्य-जाति बाद में भिन्न भिन्न देशों में फैलती हुई वहाँ अपनी भाषा को ले गई हो। मार्कण्डेय-निर्दिष्ट तीन प्रकार की पैशाची परस्पर संनिहित प्रदेशों की भाषा है, इससे खूब ही संभव है कि यह पहले केकय देश में उत्पन्न हुई हो और बाद में उसीके समीपस्थ शूरसेन और पञ्जाब तक फैल गई हो। मार्कण्डेय ने शौरसेन-पैशाची और पाञ्चाल-पैशाची की प्रकृति जो कैकय-पैशाची कही है इसका मतलब भी यही हो सकता है। सर ग्रियर्सन के मत में पिशाच-भाषा-भाषी लोगों का आदिम वास-स्थान उत्तर-पश्चिम पञ्जाब अथवा अफगानिस्थान का प्रान्त प्रदेश है, और बाद में वहाँ से ही संभवतः इसका अन्य देशों में विस्तार हुआ है। किन्तु डो. होर्नलि का इस विषय में और ही मत है। उनका कहना यह है कि अनार्य जाति के लोग आर्य-जाति की भाषा का जिस विकृत रूप में उच्चारण करते थे वही पैशाची भाषा है, अर्थात् इनके मत से पैशाची भाषा न तो किसी देश-विशेष की भाषा है और न वह वास्तव में भिन्न भाषा ही है। हमें सर ग्रियर्सन का मत ही प्रामाणिक प्रतीत होता है जो मार्कण्डेय के मत के साथ अनेकांश में मिलता-जुलता है।

---

* "यद् भूतैरुच्यते किञ्चित् तद्भौतिकमिति स्मृतम्" (वाग्भटालङ्कार २, ३)। † "पैशाचीं तु पिशाचाद्याः (प्राहुः)" (अलङ्कारशेखर, पृष्ठ ५)। ‡ "रक्षःपिशाचनीचेषु पैशाचीद्वितयं भवेत्॥ ३५॥" (षड्भाषा-चन्द्रिका, पृष्ठ ३)।

§ वर्तमान मदुरा और कन्याकुमारी के आसपास के प्रदेश का नाम पाण्ड्य, पञ्चनद प्रदेश का नाम केकय, अफगानिस्थान के वर्तमान बाल्खनगर वाले प्रदेश का नाम वाह्लीक, दक्षिण भारत के पश्चिम उपकूल का नाम सह्य, नर्मदा के उत्पत्ति-स्थान के निकटवर्ती देश का नाम कुन्तल, वर्तमान काबूल और पेशावर वाले प्रदेश का नाम गान्धार, हिमालय के निम्न-वर्ती पार्वत्य प्रदेश-विशेष का नाम हैव और दक्षिण महाराष्ट्र के पार्वत्य अञ्चल का नाम कन्नोजन है।

वररुचि ने शौरसेनी प्राकृत को ही पैशाची भाषा का मूल कहा है *। मार्कण्डेय ने पैशाची भाषा को कैकय, शौरसेन और पाञ्चाल इन तीन भेदों में विभक्त कर संस्कृत और शौरसेनी उभय को कैकय-पैशाची का और कैकय-पैशाची को शौरसेन-पैशाची का मूल बतलाया है। पाञ्चाल-पैशाची के मूल का उन्होंने निर्देश ही नहीं किया है, किन्तु उन्होंने इसके जो केरी (केलिः) और मंदिलं (मन्दिरम्) ये दो उदाहरण दिये हैं इससे मालूम होता है कि इस पाञ्चाल-पैशाची का केकय-पैशाची से रकार और लकार के व्यत्यय के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं है, सुतरां शौरसेन-पैशाची की तरह पाञ्चाल-पैशाची की प्रकृति भी इनके मत से कैकय-पैशाची ही हो सकती हैं। यहाँ पर यह कहना आवश्यक है कि मार्कण्डेय ने शौरसेन-पैशाची के जो § लक्षण दिये हैं उन पर से शौरसेन-पैशाची का शौरसेनी भाषा के साथ कोई भी संबन्ध प्रतीत नहीं होता, क्योंकि कैकय-पैशाची के साथ शौरसेन-पैशाची के जो भेद उन्होंने बतलाये हैं वे मागधी भाषा के ही अनुरूप हैं, न कि शौरसेनी के। इससे इसको शौरसेन-पैशाची न कह कर मागध-पैशाची कहना ही संगत जान पड़ता है।

प्रकृति।

प्राकृत वैयाकरणों के मत से पैशाची भाषा का मूल शौरसेनी अथवा संस्कृत भाषा है, किन्तु हम पहले यह भलीभान्ति दिखा चुके हैं कि कोई भी प्रादेशिक कथ्य भाषा, संस्कृत अथवा अन्य प्रादेशिक भाषा से उत्पन्न नहीं है, परन्तु वह उसी कथ्य अथवा प्राकृत भाषा से उत्पन्न हुई है जो वैदिक युग में उस प्रदेश में प्रचलित थी। इस लिए पैशाची भाषा का भी मूल संस्कृत या शौरसेनी नहीं, किन्तु वह प्राकृत भाषा ही है जो वैदिक युग में भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिम प्रान्त की या अफगानिस्थान के पूर्व-प्रान्त-वर्ती प्रदेश की कथ्य भाषा थी।

समय।

प्रथम युग की पैशाची भाषा का कोई निदर्शन साहित्य में नहीं मिलता है। गुणाढ्य की बृहत्कथा संभवतः इसी प्रथम युग की पैशाची भाषा में रची गई थी; किन्तु वह आजकल उपलब्ध नहीं है। इस समय हम व्याकरण, नाटक और काव्य में पैशाची भाषा के जो निदर्शन पाते हैं वह मध्ययुग की पैशाची भाषा का है। मध्ययुग की यह पैशाची भाषा खिस्त की द्वितीय शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी पर्यन्त प्रचलित थी।

लक्षण।

पैशाची भाषा का शौरसेनी भाषा के साथ जिस जिस अंश में भेद है वह सामान्य रूप से नीचे दिया जाता है। इसके सिवा अन्य सभी अंशों में वह शौरसेनी के ही समान है। इससे इसके बाकी के लक्षण शौरसेनी के प्रकरण से जाने जा सकते हैं।

वर्ण-भेद।

१। ज्ञ, न्य और ण्य के स्थान में ञ्ञ होता है, यथा—प्रज्ञा=पञ्ञा; ज्ञान=ञ्ञान; कन्यका=कञ्ञका; अभिमन्यु=अभिमञ्ञु; पुण्य=पुञ्ञ।

२। ण्ण और न्न के स्थान में न होता है; जैसे—गुण=गुन; कनक=कनक।

३। त और द की जगह त होता है; जैसे—भगवती=भगवती; शत=सत; मदन=मतन; देव=तेव।

४। लकार ळ में बदलता है यथा—सील=सीळ; कुल=कुळ।

५। टु की जगह टु और तु होता है; जैसे—कुटुम्बक=कुटुम्बक, कुतुम्बक।

६। महाराष्ट्री के लक्षण में असंयुक्त-व्यञ्जन-परिवर्तन के १ से १३, १५ और १६ अंक वाले जो नियम बतलाये गये हैं वे शौरसेनी भाषा में लागू होते हैं, किन्तु पैशाची में नहीं; यथा—लोक=ळोक; शाखा=साखा; भट=भट; मठ=मठ; गरुड=गरुड; प्रतिभास=पतिभास; कनक=कनक; शपथ=सपथ; रेफ=रेफ; शबल=सबळ; यशस्=यस; करणीय=करणीय; अंगार=इंगार; दाह=दाह।

---

* "प्रकृतिः शौरसेनी" (प्राकृतप्रकाश १०, २)।

§ "सस्य शः", "स्य लो भवेत्", "चवर्गस्योपरिष्टाद् यः", "कृतादिषु कडादयः", "त्तस्य च्छ", "स्थाविकृतेः ष्टस्य रतः", "त्तत्थयोः श ऊर्ध्वं स्यात्", "अतः सोरो (रे) त्" (प्राकृतसर्वस्व, पृष्ठ १२६)।

७। यादृश आदि शब्दों का द परिणत होता है ति में; यथा—यादृश=यातिस; सदृश=सतिस।

नाम-विभक्ति।

१। अकारान्त शब्द की पञ्चमी का एकवचन आतो और आतु होता है; जैसे—जिनातो, जिनातु।

आख्यात।

१। शौरसेनी के दि और दे प्रत्ययों की जगह ति और ते होता है; यथा—गच्छति, गच्छते; रमति, रमते।
२। भविष्य-काल में स्सि के बदले एय्य होता है; जैसे—भविष्यति=हुवेय्य।
३। भाव और कर्म में ईअ तथा इज के स्थान में इय्य होता है, यथा—पठ्यते=पठिय्यते, हसिय्यते।

कृदन्त।

१। त्वा प्रत्यय के स्थान में कहीं तून और कहीं त्थून और द्धून होते हैं; यथा पठित्वा=पठितून; गत्वा=गन्तून; नष्ट्वा=नत्थून, नद्धून; तप्त्वा=तत्थून, तद्धून।

---

(३) चूलिकापैशाची।

निदर्शन।

चूलिकापैशाची भाषा के लक्षण आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण में और पंडित लक्ष्मीधर ने अपनी षड्भाषाचन्द्रिका में दिये हैं। आचार्य हेमचन्द्र के कुमारपालचरित और काव्यानुशासन में इस भाषा के निदर्शन पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त हम्मीर-मदमर्दन-नामक नाटक में और दोएक छोटे २ षड्भाषास्तोत्रों में भी इसके कुछ नमूने देखने में आते हैं।

पैशाची में इसका अन्तर्भाव।

प्राकृतलक्षण, प्राकृतप्रकाश, संक्षिप्तसार और प्राकृतसर्वस्व वगैरः प्राकृत-व्याकरणों में और संस्कृत के अलंकार-ग्रन्थों में चूलिकापैशाची का कोई उल्लेख नहीं है; अथ च आचार्य हेमचन्द्र ने और पं. लक्ष्मीधर ने चूलिकापैशाची के जो लक्षण दिये हैं वे चंड, वररुचि, क्रमदीश्वर और मार्कण्डेय-प्रभृति वैयाकरणों ने पैशाची भाषा के लक्षणों में ही अन्तर्गत किये हैं। इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि उक्त वैयाकरण-गण चूलिकापैशाची को पैशाची भाषा के अन्तर्भूत ही मानते थे, स्वतन्त्र भाषा के रूप में नहीं। आचार्य हेमचन्द्र भी अपने अभिधानचिन्तामणि-नामक संस्कृत कोष-ग्रन्थ के "भाषाः षट् संस्कृतादिकाः" (काण्ड २, १९९) इस वचन की "संस्कृतप्राकृतमागधीशौरसेनीपैशाच्यपभ्रंशलक्षणाः" यह व्याख्या करते हुए चूलिकापैशाची का अलग उल्लेख नहीं करते हैं। इससे मालूम पड़ता है कि वे भी चूलिकापैशाची को पैशाची का ही एक भेद मानते हैं। हमारा भी यही मत है। इससे यहाँ पर इस विषय में पैशाची भाषा के अनन्तरोक्त विवरण से कुछ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं रहती। सिर्फ, आचार्य हेमचन्द्र ने और उन्हीं का पूरा अनुसरण कर पं. लक्ष्मीधर ने इस भाषा के जो लक्षण दिये हैं वे नीचे उद्धृत किये जाते हैं। इनके सिवा सभी अंशों में इस भाषा का पैशाची से कोई पार्थक्य नहीं है।

लक्षण।

१। वर्ग के तृतीय और चतुर्थ अक्षरों के स्थान में क्रमशः प्रथम और द्वितीय होता है*; यथा—नगर=नकर, व्याघ्र=वक्ख, राजा=राचा, निर्झर=निच्छर, तडाग=तटाक, ढक्का=ठक्का; मदन=मतन, मधुर=मथुर, बालक=पालक, भगवती=फकवती।
२। र के स्थान में वैकल्पिक ल होता है, यथा—रुद्र=लुद्द, रुद्द।

---

* अन्य वैयाकरणों के मत से यह नियम शब्द के आदि के अक्षरों में लागू नहीं होता है (हे० प्रा० ४, ३२७)।

(४) अर्धमागधी ।

प्राचीन जैन सूत्रों की भाषा अर्धमागधी ।

भगवान महावीर अपना धर्मोपदेश अर्धमागधी भाषा में देते थे *। इसी उपदेश के अनुसार उनके समसामयिक गणधर श्रीसुधर्मस्वामी ने अर्धमागधी भाषा में ही आचाराङ्ग-प्रभृति सूत्र-ग्रन्थों की रचना की थी ‡। ये ग्रन्थ उस समय लिखे नहीं गये थे, परन्तु शिष्य-परम्परा से कण्ठ-पाठ द्वारा संरक्षित होते थे। दिगम्बर जैनों के मत से ये समस्त ग्रन्थ विलुप्त हो गये हैं, परन्तु श्वेताम्बर जैन दिगम्बरों के इस मन्तव्य से सहमत नहीं हैं। श्वेताम्बरों के मत के अनुसार ये सूत्र-ग्रन्थ महावीर-निर्वाण के बाद ९८० अर्थात् खिस्ताब्द ४५४ में वलभी (वर्तमान वळा, काठियावाड) में श्रीदेवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने वर्तमान आकार में लिपिबद्ध किये। उस समय लिखे जाने पर भी इन ग्रन्थों की भाषा प्राचीन है। इसका एक कारण यह है कि जैसे ब्राह्मणों ने कण्ठ-पाठ-द्वारा बहु-शताब्दी-पर्यन्त वेदों की रक्षा की थी वैसे ही जैन मुनिओं ने भी अपनी शिष्य-परम्परा से मुख-पाठ-द्वारा करीब एक हजार वर्ष तक अपने इन पवित्र ग्रन्थों को याद रखा था। दूसरा यह है कि जैन धर्म में सूत्र-पाठों के शुद्ध उच्चारण के लिए खूब जोर दिया गया है, यहाँ तक कि मात्रा या अक्षर के भी अशुद्ध या विपरीत उच्चारण करने में दोष माना गया है। तिस पर भी सूत्र-ग्रन्थों की भाषा का सूक्ष्म निरीक्षण करने से इस बात का स्वीकार करना ही पडेगा कि भगवान महावीर के समय की अर्धमागधी भाषा के इन ग्रन्थों में, अज्ञातभाव से ही क्यों न हो, भाषा-विषयक परिवर्तन अवश्य हुआ है। यह परिवर्तन होना असंभव भी नहीं है, क्योंकि ये सूत्र-ग्रन्थ वेदों की तरह शब्द-प्रधान नहीं, किन्तु अर्थ-प्रधान हैं। इतना ही नहीं, बल्कि ये ग्रन्थ जन-साधारण के बोध के लिए ही उस समय की कथ्य भाषा में रचे गये थे § और कथ्य भाषा में समय गुजरने के साथ साथ अवश्य होने वाले परिवर्तन का प्रभाव, कण्ठ-पाठ के रूप में स्थित इन सूत्रों की भाषा पर पड़ना, अन्ततः उस उस समय के लोगों को समझाने के उद्देश्य से भी, आश्चर्यकर नहीं है। इसके सिवा, भाषा-परिवर्तन का यह भी एक मुख्य कारण माना जा सकता है कि भगवान महावीर के निर्वाण से करीब दो सौ वर्ष के बाद (खिस्त-पूर्व ३१०) चन्द्रगुप्त के राजत्व-काल में मगध देश में बारह वर्षों का सुदीर्घ अकाल पड़ने पर साधु लोगों को निर्वाह के लिए समुद्र-तीर-वर्ती प्रदेश (दक्षिण देश) में जाना पड़ा था ÷। उस समय वे सूत्र-ग्रन्थों का परिशीलन न कर सकने के कारण उन्हें भूल से गये थे। इससे अकाल के बाद पाटलिपुत्र में संघ ने एकत्रित होकर जिस जिस साधु को जिस जिस अङ्ग-ग्रन्थ का जो जो अंश जिस जिस आकार में याद रह गया था, उस उस से उस उस अङ्ग-ग्रन्थ के उस उस अंश को उस उस रूप में

---

* "भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ" (समवायाङ्ग सूत्र, पत्र ९०)।
"तए णं समणे भगवं महावीरे कूणिअस्स रण्णो भिंभिसारपुत्तस्स.....अद्धमागहाए भासाए भासइ।.....सा वि य णं अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणामेणं परिणमइ" (औपपातिक सूत्र)।

‡ "अत्थं भासइ अरिहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं" (आवश्यकनिर्युक्ति)।

§ "सुत्तेण दिट्ठिवायं कालियउक्कालियंगसिद्धंतं।
थीबालवायणत्थं पाययमुइयं जिणवरेहिं ॥"
(आचारदिनकर में श्रीवर्धमानसूरि ने उद्धृत की हुई प्राचीन गाथा)।
"बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां नृणां चारित्रकाङ्क्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः ॥"
(हरिभद्रसूरि की दशवैकालिक टीका में और हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में उद्धृत प्राचीन श्लोक)।

÷ देखो Annual Report of Asiatic Society, Bengal, 1893 में डो. होर्नलि का लेख।

प्राप्त कर ग्यारह अङ्ग-ग्रन्थों का संकलन किया *। इस घटना से जैसे अङ्ग-ग्रन्थों की भाषा के परिवर्तन का कारण समझ में आ सकता है, वैसे इन ग्रन्थों की अर्धमागधी भाषा में, मगध के पार्श्ववर्ती प्रदेशों की भाषाओं की तुलना में, दूरवर्ती महाराष्ट्र प्रदेश की भाषा का जो अधिक साम्य देखा जाता है उसके कारण का भी पता चलता है। जब ऐतिहासिक प्रमाणों से यह बात सिद्ध है कि दक्षिण प्रदेश में प्राचीन काल में जैन धर्म का अच्छी तरह प्रचार और प्रभाव हुआ था तब यह अनुमान करना अयुक्त नहीं है कि उक्त दीर्घकालिक अकाल के समय साधु लोग समुद्र-तीर-वर्ती इस दक्षिण देश में ही गये थे और वहाँ उन्होंने उपदेश-द्वारा जैन धर्म का प्रचार किया था। यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि उक्त साधुओं को दक्षिण प्रदेश में उस समय जो भाषा प्रचलित थी उसका अच्छी तरह ज्ञान हो गया था, क्योंकि उसके विना उपदेश-द्वारा धर्म-प्रचार का कार्य वे कर ही नहीं सकते थे। इससे यह असंभव नहीं है कि उन साधुओं की इस नव-परिचित भाषा का प्रभाव, उनके कण्ठ-स्थित सूत्रों की भाषा पर भी पड़ा था। इसी प्रभाव को लेकर उनमेंसे कईएक साधु-लोग पाटलिपुत्र के उक्त संमेलन में उपस्थित हुए थे, जिससे अङ्गों के पुनः संकलन में उस प्रभाव ने न्यूनाधिक अंश में स्थान पाया था।

उक्त घटना से करीब आठ सौ वर्षों के बाद वलभी (सौराष्ट्र) और मथुरा में जैन ग्रन्थों को लिपि-बद्ध करने के लिए मुनि-संमेलन किये गये थे, क्योंकि इन सूत्र-ग्रन्थों का और उस समय तक अन्य जो जैन ग्रन्थ रचे गये थे उनका भी क्रमशः विस्मरण हो चला था और यदि वही दशा कुछ अधिक समय तक चालू रहती तो समग्र जैन शास्त्रों के लोप हो जाने का डर था जो वास्तव में सत्य था। संभवतः इस समय तक जैन साधुओं का भारतवर्ष के अनेक प्रदेशों में विस्तार हो चुका था और इन समस्त प्रदेशों से अल्पाधिक संख्या में आकर साधु लोगों ने इन संमेलनों में योग-दान किया था। भिन्न भिन्न प्रदेशों से आगत इन मुनिओं से जो ग्रन्थ अथवा ग्रन्थ के अंश जिस रूप में प्राप्त हुआ उसी रूप में वह लिपि-बद्ध किया गया। उक्त मुनिओं के भिन्न भिन्न प्रदेशों में चिर-काल तक विचरने के कारण उन प्रदेशों की भिन्न भिन्न भाषाओं का, उच्चारणों का और विभिन्न प्राकृत भाषाओं के व्याकरणों का कुछ-न-कुछ अलक्षित प्रभाव उनके कण्ठ-स्थित धर्म-ग्रन्थों की भाषा पर भी पड़ना अनिवार्य था। यही कारण है कि अंग-ग्रन्थों में, एक ही अङ्ग-ग्रन्थ के भिन्न भिन्न अंशों में और कहीं कहीं तो एक ही अंग-ग्रन्थ के एक ही वाक्य में परस्पर भाषा-भेद नजर आता है। संभवतः भिन्न भिन्न प्रदेशों की भाषाओं के प्रभाव से युक्त इसी भाषा-भेद को लक्ष्य में लेकर खिस्त की सप्तम शताब्दी के ग्रन्थकार श्रीजिनदासगणि ने अपनी निशीथचूर्णि में अर्धमागधी भाषा का "अट्ठारसदेसीभासानिययं वा अद्धमागहं" यह वैकल्पिक लक्षण किया है। भाषा-परिवर्तन के उक्त अनेक प्रबल कारण उपस्थित होने पर भी अंग-ग्रन्थों की अर्धमागधी भाषा में, पाटलिपुत्र के संमेलन के बाद से, आमूल वा अधिक परिवर्तन न होकर उसके बदले जो सूक्ष्म या अल्प ही भाषा-भेद हुआ है और सैंकड़ो की तादाद में उसके प्राचीन रूप अपने असल आकार में जो संरक्षित रह सके हैं उसका श्रेयः सूत्रों के अशुद्ध उच्चारण आदि के लिए प्रदर्शित पाप-बन्ध के उस धार्मिक नियम को है जो संभवतः पाटलीपुत्र के संमेलन के बाद निर्मित या दृढ किया गया था।

---

* "इतश्च तस्मिन् दुष्काले कराले कालरात्रिवत्। निर्वाहार्थं साधुसङ्घस्तीरं नीरनिधेर्ययौ ॥ ५५ ॥
अगुण्यमानं तु तदा साधूनां विस्मृतं श्रुतम्। अनभ्यसनतो नश्यत्यधीतं धीमतामपि ॥ ५६ ॥
संघोऽथ पाटलीपुत्रे दुष्कालान्तेऽखिलोऽमिलत्। यदङ्गाध्ययनोद्देशाद्यासीद् यस्य तदाददे ॥ ५७ ॥
ततश्चैकादशाङ्गानि श्रीसंघोऽमेलयत् तदा। दृष्टिवादनिमित्तं च तस्थौ किञ्चिद् विचिन्तयन् ॥ ५८ ॥
नेपालदेशमार्गस्थं भद्रबाहुं च पूर्विणम्। ज्ञात्वा संघः समाह्वातुं ततः प्रैषीन्मुनिद्वयम् ॥ ५९ ॥"

(स्थविरावलीचरित, सर्ग ९)।

यहाँ पर प्रसङ्ग-वश इस बात का उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है कि *समवायाङ्ग सूत्र में निर्दिष्ट अङ्ग-ग्रन्थ-संबन्धी विषय और परिमाण का वर्तमान अङ्ग-ग्रन्थों में कहीं कहीं जो थोडा-बहूत क्रमशः विसंवाद और ह्रास पाया जाता है और अङ्ग-ग्रन्थों में ही बाद के § उपाङ्ग-ग्रन्थों का और बाद की ÷ घटनाओं का जो उल्लेख दृष्टिगोचर होता है उसका समाधान भी हमको उक्त संमेलनों की घटनाओं से अच्छी तरह मिल जाता है।

अर्धमागधी और आर्ष एक हैं।

×समवायाङ्ग सूत्र, व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, औपपातिक सूत्र और प्रज्ञापना सूत्र में तथा अन्यान्य प्राचीन जैन ग्रन्थों में जिस भाषा को अर्धमागधी नाम दिया गया है, + स्थानाङ्ग-सूत्र और अनुयोगद्वारसूत्र में जिस भाषा को 'ऋषिभाषिता' कहा गया है और संभवतः इसी 'ऋषिभाषिता' पर से $ आचार्य हेमचन्द्र आदि ने जिस भाषा की 'आर्ष (ऋषिओं की भाषा)' संज्ञा रखी है वह वस्तुतः एक ही भाषा है अर्थात् अर्धमागधी, ऋषिभाषिता और आर्ष ये तीनों एक ही भाषा के भिन्न भिन्न नाम हैं, जिनमें पहला उसके उत्पत्ति-स्थान से और बाकी के दो उस भाषा को सर्व-प्रथम साहित्य में स्थान देने वालों से संबन्ध रखते हैं। जैन सूत्रों की भाषा यही अर्धमागधी, ऋषिभाषिता या आर्ष है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण में आर्ष प्राकृत के जो लक्षण और उदाहरण बताये हैं उनसे तथा "अत एत् सौ पुंसि मागध्याम् ¶" (हे० प्रा० ४, २८७) इस

---

* समवायाङ्ग सूत्र, पत्र १०६ से १२५।

§ "जहा **पन्नवणाए** पढमए आहारुद्देसए" (व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र १, १—पत्र १६)।

÷ देखो स्थानाङ्ग सूत्र, पत्र ४१० में वर्णित निह्नव-स्वरूप।

× देखो पृष्ठ १६ में दिया हुआ समवायाङ्ग सूत्र और औपपातिकसूत्र का पाठ।

"देवा णं भंते ! कयराए भासाए भासंति ? कयरा वा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति ? गोयमा ! देवा णं **अद्धमागहाए** भासाए भासंति, सावि य णं **अद्धमागहा** भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति।" (व्याख्या-प्रज्ञप्तिसूत्र ५, ४—पत्र २२१)।

"से किं तं भासारिया ? भासारिया जे णं **अद्धमागहाए** भासाए भासंति" (प्रज्ञापनासूत्र १—पत्र ६२)।

"मगहद्धविसयभासाणिबद्धं **अद्धमागहं**, अट्ठारसदेसीभासाणियमं वा **अद्धमागहं**" (निशीथचूर्णि)।

"आरिसवयणे सिद्धं देवाणं **अद्धमागहा** वाणी" (काव्यालंकार की नमिसाधुकृतटीका २, १२)।

"सर्वार्धमागधीं सर्वभाषासु परिणामिनीम्।
सर्वेषां सर्वतो वाचं सार्वज्ञीं प्रणिदध्महे॥" (वाग्भट्टकाव्यानुशासन, पृष्ठ २)।

+ "सक्कता पागता चेव दुहा भणितीओ आहिया।
सरमंडलम्मि गिज्जंते पसत्था **इसिभासिता**॥" (स्थानाङ्गसूत्र ७—पत्र ३६४)।

"सक्कया पायया चेव भणितीओ होंति दोण्णि वा।
सरमंडलम्मि गिज्जंते पसत्था **इसिभासिआ**॥" (अनुयोगद्वारसूत्र, पत्र १३१)।

$ देखो हेमचन्द्र-प्राकृतव्याकरण का सूत्र १, ३।

"आर्षोक्तिमार्षतुल्यं च द्विविधं प्राकृतं विदुः" (प्रेमचन्द्रतर्कवागीश ने काव्यादर्शटीका १, ३३ में उद्धृत किया हुआ पद्यांश)।

¶ मागधी भाषा में अकारान्त पुंलिंग शब्द के प्रथमा के एकवचन में 'ए' होता है।

सूत्र की व्याख्या में जो "* यदपि § "पोराणमद्धमागहभासानिययं हवइ सुत्तं ÷" इत्यादिना आर्षस्य अर्धमागध-भाषानियतत्वमाम्नायि वृद्धैस्तदपि प्रायोऽस्यैव विधानात्, न वक्ष्यमाणलक्षणस्य" यह कह कर उसी के अनन्तर जो दशवैकालिक सूत्र से उद्धृत "कयरे आगच्छइ, से तारिसे जिइंदिए" यह उदाहरण दिया है उससे उक्त बात निर्विवाद सिद्ध होती है।

डो. जेकोबी ने प्राचीन जैन सूत्रों की भाषा को प्राचीन महाराष्ट्री कह कर 'जैन महाराष्ट्री' नाम दिया है ×। डो. पिशल ने अपने सुप्रसिद्ध प्राकृत-व्याकरण में डो. जेकोबी की इस बात का सप्रमाण खंडन किया है और यह सिद्ध किया है कि आर्ष और अर्धमागधी इन दोनों में परस्पर भेद नहीं है, एवं प्राचीन जैन सूत्रों की—गद्य और पद्य दोनों की—भाषा परम्परागत मत के अनुसार अर्धमागधी है +। परवर्ती काल के जैन प्राकृत ग्रन्थों की भाषा अल्पांश में अर्धमागधी की और अधिकांश में महाराष्ट्री की विशेषताओं से युक्त होने के कारण 'जैन महाराष्ट्री' कही जा सकती है; परन्तु प्राचीन जैन सूत्रों की भाषा को, जो शौरसेनी आदि भाषाओं की अपेक्षा महाराष्ट्री से अधिक साम्य रखती हुई भी, अपनी उन अनेक खासियतों से परिपूर्ण है जो महाराष्ट्र आदि किसी प्राकृत में दृष्टिगोचर नहीं होती हैं, यह (जैन महाराष्ट्री) नाम नहीं दिया जा सकता।

अर्धमागधी महाराष्ट्री से भिन्न है।

पंडित बेचरदास अपने गूजराती प्राकृत-व्याकरण की प्रस्तावना में जैन सूत्रों की अर्धमागधी भाषा को $ प्राकृत (महाराष्ट्री) सिद्ध करने की विफल चेष्टा करते हुए डो. जेकोबी से भी दो कदम आगे बढ़ गये हैं, क्योंकि डो. जेकोबी जब इस भाषा को प्राचीन महाराष्ट्री—साहित्य-निबद्ध महाराष्ट्री से पुरातन महाराष्ट्री—बताते हैं तब पंडित बेचरदास, प्राकृत भाषाओं के इतिहास जानने की तनिक भी परवा न रखकर, अर्वाचीन महाराष्ट्री से इस प्राचीन अर्धमागधी को अभिन्न सिद्ध करने जा रहे हैं! पंडित बेचरदास ने अपने सिद्धान्त के समर्थन में जो दलीलें पेश की हैं वे अधिकांश में भ्रान्त संस्कारों से उत्पन्न होने के कारण कुछ महत्त्व न रखती हुईं भी कुतूहल-जनक अवश्य हैं। उन दलीलों का सारांश यह है—(१) अर्धमागधी में महाराष्ट्री से मात्र दो चार रूपों की ही विशेषता; (२) आचार्य हेमचन्द्र का इस भाषा के लिए स्वतन्त्र व्याकरण या शौरसेनी आदि की तरह अलग अलग सूत्र न बनाकर प्राकृत (महाराष्ट्री) या आर्ष प्राकृत में ही इसको अन्तर्गत करना; (३) इसमें मागधी भाषा की कतिपय विशेषताओं का अभाव; (४) निशीथचूर्णिकार

---

* इसका अर्थ यह है कि प्राचीन आचार्यों ने "पुराना सूत्र अर्धमागधी भाषा में नियत है" इत्यादि वचन-द्वारा आर्ष भाषा को जो अर्धमागधी भाषा कही है वह प्रायः मागधी भाषा के इसी एक एकारवाले विधान को लेकर, न कि आगे कहे जाने वाले मागधी भाषा के अन्य लक्षण के विधान को लेकर।

§ इसी वचन के आधार पर डो. होर्नलि का चण्ड-कृत प्राकृतलक्षण के इन्ट्रोडक्शन (पृष्ठ १८-१९) में यह लिखना कि हेमचन्द्र के मत में 'पोराण' आर्ष प्राकृत का एक नाम है, भ्रम-पूर्ण है, क्योंकि यहाँ पर 'पोराण' यह सूत्र का ही विशेषण है, भाषा का नहीं।

÷ आवश्यकसूत्र के पारिष्ठापनिकाप्रकरण (दे० ला०पु०फं० पत्र ६२८) में यह संपूर्ण गाथा इस तरह है :—
"पुव्वावरसंजुत्तं वेरग्गकरं सतंतमविरुद्धं। पोराणमद्धमागहभासानिययं हवइ सुत्तं॥"

× Kalpa Sutra, Sacred Books of the East, VoL. XII.

+ Grammatik der Prākrit-Sprachen, § 16-17.

$ जैसे आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण में महाराष्ट्री भाषा के अर्थ में प्राकृत शब्द का प्रयोग किया है वैसे पंडित बेचरदास ने भी अपने प्राकृत-व्याकरण में, जो केवल हेमाचार्य के ही प्राकृत-व्याकरण के आधार पर रचा गया है, सर्वत्र साहित्यिक महाराष्ट्री के ही अर्थ में प्राकृत शब्द का व्यवहार किया है।

के अर्धमागधी के दोनों में एक भी लक्षण की इसमें असंगति; (५) प्राचीन जैन ग्रन्थों में इस भाषा का 'प्राकृत' शब्द से निर्देश; (६) नाट्य-शास्त्र में और प्राकृत-व्याकरणों में निर्दिष्ट अर्धमागधी के साथ प्रस्तुत अर्धमागधी की असमानता।

प्रथम दलील के उत्तर में हमें यहाँ अधिक कहने की कोई आवश्यकता नहीं, इसी प्रकरण के अन्त में महाराष्ट्री से अर्धमागधी की विशेषताओं की जो संक्षिप्त सूची दी गई है वही पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त डो. बनारसीदासजी की "अर्धमागधी रीडर" मुनि श्रीरत्नचन्द्रजी की "जैन सिद्धान्त-कौमुदी" और डो. पिशल का प्राकृत-व्याकरण मौजुद है जिनमें क्रमशः अधिकाधिक संख्या में अर्धमागधी की विशेषताओं का संग्रह है। आचार्य हेमचन्द्र के ही प्राकृत-व्याकरण के "आर्षम्" सूत्र से, इसकी स्पष्ट और सर्व-भेद-ग्राही व्यापक * व्याख्या से और जगह जगह † किये हुए आर्ष के सोदाहरण उल्लेखों से दूसरी दलील की निर्मूलता सिद्ध होती है। यदि आचार्य हेमचन्द्र ने ही निर्दिष्ट की हुई दो-एक विशेषताओं के कारण चूलिकापैशाची अलग भाषा मानी जा सकती है, अथवा आठ-दस विशेषताओं को ले कर शौरसेनी, मागधी और पैशाची भाषाओं को भिन्न भिन्न भाषा स्वीकार करने में आपत्ति नहीं की जा सकती, तो कोई वजह नहीं है कि उसी वैयाकरण ने प्रकारान्तर से अथच स्पष्ट रूप से बताई हुई वैसी ही अनेक विशेषताओं के कारण आर्ष या अर्धमागधी भी भिन्न भाषा न कही जाय। तीसरी दलील की जड़ यह भ्रान्त संस्कार है कि "वही भाषा अर्धमागधी कही जाने योग्य हो सकती है जिसमें मागधी भाषा का आधा अंश हो'। इसी भ्रान्त संस्कार के कारण चौथी दलील में उद्धृत निशीथचूर्णि के अर्धमागधी के प्रथम लक्षण का सत्य और सीधा अर्थ भी उक्त पंडितजी की समझ में नहीं आया है। इस भ्रान्त संस्कार का निराकरण और निशीथचूर्णिकार ने बताये हुए अर्धमागधी के प्रथम लक्षण का और उसके वास्तविक अर्थ का निर्देश इसी प्रकरण में आगे चलकर अर्धमागधी के मूल की आलोचना के समय किया जायगा, जिससे इन दोनों दलीलों के उत्तरों को यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है। पाँचवीं दलील भी प्राचीन आचार्यों ने जैन सूत्र-ग्रन्थों की भाषा के अर्थ में प्रयुक्त किये हुए 'प्राकृत' शब्द को 'महाराष्ट्री' के अर्थ में घसीटने से ही हुई है। मालुम पड़ता है, पंडितजी ने जैसे अपने व्याकरण में 'प्राकृत' शब्द को केवल महाराष्ट्री के लिए रिझर्व कर रखा है वैसे सभी प्राचीन आचार्यों के 'प्राकृत' शब्द को भी वे एकमात्र महाराष्ट्री के ही अर्थ में मुकरर किया हुआ समझ बैठे हैं ‡। परन्तु यह समझ गलत है। प्राकृत शब्द का मुख्य अर्थ है प्रादेशिक कथ्य भाषा—लोक-भाषा। प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति भी वास्तव में इसी अर्थ से संगति रखती है यह हम पहले ही अच्छी तरह प्रमाणित कर चुके हैं। ख्रिस्त की षष्ठ शताब्दी के आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श में

"शौरसेनी च गौडी च लाटी चान्या च तादृशी। याति प्राकृतमित्येवं व्यवहारेषु संनिधिम्॥" (१, ३५)।

---

* "आर्षं प्राकृतं बहुलं भवति। तदपि यथास्थानं दर्शयिष्यामः। आर्षे हि सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते" (हे० प्रा० १, ३)।

† देखो हेमचन्द्र-प्राकृत व्याकरण के १, ४६; १, ५७; १, ७९; १, ११८; १, ११९; १, १५१; १, १७७; १, २२८; १, २५४; २, १७; २, २१; २, ८६; २, १०१; २, १०४; २, १४६; २, १७४; ३, १६२; और ४, २८७ सूत्रों की व्याख्या।

‡ "ऊपरना बधा उल्लेखोमां वपरायेलो 'प्राकृत' शब्द प्राकृत भाषानो सूचक छे, अनुयोगद्वदारमां 'प्राकृत' शब्द प्राकृत भाषाना अर्थमां वपरायेलो छे. (पृ० १३१ स०)। **वैयाकरण वररुचिना समयथी तो ए शब्द ए ज अर्थमां वपरातो आव्यो छे; अने ए पछीना आचार्योए पण ए शब्दने ए ज अर्थमां वापरेलो छे,** माटे कोईए अहीं ए शब्दने मरडबो नहीं।" (प्राकृतव्याकरण, प्रवेश, पृष्ठ २६ टिप्पनी)।

इन खुले शब्दों में यही बात कही है। इससे भी यह स्पष्ट है कि प्राकृत शब्द मुख्यतः प्रादेशिक लोक-भाषा का ही वाचक है और इससे साधारणतः सभी प्रादेशिक कथ्य भाषाओं के अर्थ में इसका प्रयोग होता आया है। दण्डी के समय तक के सभी प्राचीन ग्रन्थों में इसी अर्थ में प्राकृत शब्द का व्यवहार देखा जाता है। खुद दंडी ने भी महाराष्ट्री भाषा में प्राकृत शब्द के प्रयोग को 'प्रकृष्ट' शब्द से विशेषित करते हुए इसी बात का समर्थन किया है *। दण्डी के महाराष्ट्री को 'प्रकृष्ट प्राकृत' कहने के बाद ही से, विशेष प्रसिद्धि होने के कारण, महाराष्ट्री के अर्थ में 'प्रकृष्ट' शब्द को छोड़ कर केवल प्राकृत शब्द का भी प्रयोग हेमचन्द्र आदि, किन्तु दण्डी के पीछे के ही विद्वानों ने, कहीं कहीं किया है। पंडितजी ने वररुचि के समय से लेकर पीछले आचार्यों का महाराष्ट्री के ही अर्थ में प्राकृत शब्द का व्यवहार करने की जो बात उक्त टिप्पनी में ही लिखी है उससे प्रतीत होता हैं कि उन्होंने न तो वररुचि का ही व्याकरण देखा है और न उनके पीछे के आचार्यों के ही ग्रन्थों का निरीक्षण करने की कोशिश की है, क्योंकि वररुचि ने तो "शेषं महाराष्ट्रीवत्" (प्राकृतप्रकाश १२, ३२) कहते हुए इस अर्थ में महाराष्ट्री शब्द का ही प्रयोग किया है, न कि प्राकृत शब्द का। आचार्य हेमचन्द्र ने भी कुमारपालचरित में "पाइआहिं भासाहिं" (१, १) में बहुवचन का निर्देश कर और देशीनाममाला (१, ४) में 'विशेष' शब्द लगा कर 'प्राकृत' का प्रयोग साधारण लोक-भाषा के ही अर्थ में किया है। आचार्य दण्डी और हेमचन्द्र ही नहीं, बल्कि खिस्त की नववीं शताब्दी के कवि राजशेखर †, ग्याहवीं शताब्दी के नमिसाधु ‡, उन्नीसवीं शताब्दी के प्रेमचन्द्रतर्कवागीश प्रभृति § प्रभूत जैन और जैनेतर विद्वानों ने इसी अर्थ में प्राकृत शब्द का प्रयोग किया है। इस तरह जब यह अभ्रान्त सत्य है कि प्राचीन काल से ले कर आजतक प्राकृत शब्द प्रादेशिक कथ्य भाषा के अर्थ में व्यवहृत होता आया है और इसका मुख्य और प्राचीन अर्थ साधारणतः सभी और विशेषतः कोई भी प्रादेशिक भाषा है, तब प्राचीन आचार्यों ने भगवान महावीर की उपदेश-भाषा के और उनके समसामयिक शिष्य सुधर्मस्वामि-प्रणीत जैन सूत्रों की भाषा के ही अभिप्राय में प्रयुक्त किये हुए 'प्राकृत' शब्द का 'अर्ध मगध-प्रदेश (जहाँ भगवान महावीर और सुधर्मस्वामी का उपदेश और विचरण होना प्रसिद्ध है) की लोक-भाषा (अर्धमागधी)' इस सुसंगत अर्थ को छोड़ कर मगध से सुदूरवर्ती प्रदेश 'महाराष्ट्र (जहाँ न तो भगवान महावीर का और न सुधर्मस्वामी का ही उपदेश या विहार होना जाना गया है) की भाषा (महाराष्ट्री)' यह असंगत अर्थ लगाना, अपनी हीन विवेचना-शक्ति का परिचय देना है। इसी सिलसिले में पंडितजी ने अनुयोगद्वार सूत्र की एक अपूर्ण गाथा उद्धृत की है। यदि उक्त पंडितजी अनुयोगद्वार की गाथा के पूर्वार्ध को यहाँ पर उल्लेख करने के पहले इस गाथा के मूल स्थान को ढूँढ पाते और वे प्राकृत शब्द से जिस भाषा (महाराष्ट्री) का ग्रहण करते हैं इसके और प्राचीन सूत्रों की अर्धमागधी भाषा के इतिहास को न जानते हुए भी सिर्फ उत्तरार्ध-सहित इस गाथा पर ही प्रकरण-संगति के साथ जरा गौर से विचार करने का कष्ट उठाते तो हमारा यह विश्वास है कि, वे कमसे कम इस गाथा का यहाँ हवाला देने का साहस और अनुयोगद्वार के कर्त्ता पर अर्धमागधी के विस्मरण का व्यङ्ग-बाण छोड़ने की धृष्टता कदापि नहीं कर पाते। क्योंकि इस गाथा का मूल स्थान है तृतीय अंग-ग्रन्थ जिसका नाम स्थानाङ्ग-सूत्र है। इसी स्थानाङ्ग-सूत्र के संपूर्ण स्वर-

---

* "महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः" (काव्यादर्श १, ३४)।

† "परुसो सक्कअ-बंधो पाउअ-बंधोवि होइ सुउमारो" (कर्पूरमञ्जरी, अङ्क १)।

‡ "सूरसेन्यपि प्राकृतभाषैव, तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः" (काव्यालङ्कार-टिप्पन २, १२)।

§ "सर्वासामेव प्राकृतभाषाणां"—(काव्यादर्शटीका १, ३३), "तादशीत्यनेन देशनामोपलक्षिताः सर्वा एव भाषाः प्राकृतसंज्ञयोच्यन्त इति सूचितम्" (काव्यादर्शटीका १, ३५)।

प्रकरण को अनुयोगद्वार सूत्र में उद्धृत किया गया है जिसमें वह गाथा भी शामिल है। वह संपूर्ण गाथा इस तरह है;—

"सक्कता पागता चेव दुहा भणिईओ आहिया। सरमंडलम्मि गिज्जंते पसत्था इसिभासिता॥"

इसका शब्दार्थ है—"संस्कृत और प्राकृत ये दो प्रकार की भाषायें कही गई हैं, गाये जाते स्वर-समूह (षड्ज-प्रभृति) में ऋषिभाषिता—आर्ष भाषा—प्रशस्त है।" यहाँ पर प्रकरण है सामान्यतः गीत की भाषा का। वर्तमान समय की तरह उस समय भी सभी भाषाओं में गीत होते थे। इससे यहाँ पर इन सभी भाषाओं का निर्देश करना ही सूत्रकार को अभिप्रेत है जो उन्होंने संस्कृत—व्याकरण-संस्कार-युक्त—भाषा और प्राकृत—व्याकरण-संस्कार-रहित—लोक-भाषा—इन दो मुख्य विभागों में किया है। इस तरह इस गाथा में पहले गीत की भाषाओं का सामान्य रूप से निर्देश कर बाद में इन भाषाओं में जो प्रशस्त है वह 'ऋषिभाषिता' इस विशेष रूप से बताई गई है। यदि यहाँ पर प्राकृत शब्द का 'प्रादेशिक लोक-भाषा' यह सामान्य अर्थ न ले कर पंडितजी के कथनानुसार 'महाराष्ट्री' यह विशेष अर्थ लिया जाय तो गीत की सभी भाषाओं का निर्देश, जो सूत्रकार को करना आवश्यक है, कैसे हो सकता है? क्या उस समय अन्य लोक-भाषाओं में गीत होते ही न थे? गीत का ठेका क्या संस्कृत और महाराष्ट्री इन दो भाषाओं को ही मिला हुआ था? यह कभी संभवित नहीं है। इसी गाथा के उत्तरार्ध के 'पसत्था इसिभासिता" इस वचन से अर्धमागधी की सूचना ही नहीं, बल्कि उसका श्रेष्ठपन भी सूत्रकार ने स्पष्ट रूप में बताया है। इससे पंडितजी के उस कथन में कुछ भी सत्यांश नजर नहीं आता है जो उन्होंने सूत्रकार के अर्धमागधी की अलग सूचना न करने के बारे में किया है।

जैसे बौद्धसूत्रों की मागधी (पालि) से नाट्य-शास्त्र या प्राकृत-व्याकरणों में निर्दिष्ट मागधी भिन्न है वैसे जैन सूत्रों की अर्धमागधी से नाट्य-शास्त्र की या प्राकृत-व्याकरणों की अर्धमागधी भी अलग है। इससे बौद्धसूत्रों की मागधी नाट्य-शास्त्र या प्राकृत-व्याकरणों की मागधी से मेल न रखने के कारण जैसे महाराष्ट्री न कही जाकर मागधी कही जाती है वैसे जैन सूत्रों की अर्धमागधी भाषा भी नाट्य-शास्त्र या प्राकृत-व्याकरणों की अर्धमागधी से समान न होने की वजह से ही महाराष्ट्री न कही जाकर अर्धमागधी ही कही जा सकती है।

नाटकीय अर्धमागधी जैन-सूत्रों की अर्धमागधी से भिन्न है।

भरत-रचित कहे जाते नाट्य-शास्त्र में जिन सात भाषाओं का उल्लेख है उनमें एक अर्धमागधी भी है *। इसी नाट्यशास्त्र में नाटकों के नौकर, राजपुत्र और श्रेष्ठी इन पात्रों के लिए इस भाषा का प्रयोग निर्दिष्ट किया गया है ÷। इससे नाटकों में इन पात्रों की जो भाषा है वह अर्धमागधी कही जाती है। परन्तु नाटकों की अर्धमागधी और जैन सूत्रों की अर्धमागधी में परस्पर समानता की अपेक्षा इतना अधिक भेद है कि यह एक दूसरे से अभिन्न कभी नहीं कही जा सकती। मार्कण्डेय ने अपने प्राकृत-व्याकरण में मागधी भाषा के लक्षण बताकर उसी प्रकरण के शेष में अर्धमागधी भाषा का यह लक्षण कहा है—"× शौरसेन्या अदूरत्वादियमेवार्धमागधी" अर्थात् शौरसेनी भाषा के निकट-वर्ती होने के कारण मागधी ही अर्धमागधी है। इस लक्षण के अनन्तर उन्होंने उक्त नाट्य-शास्त्र के उस वचन को उद्धृत किया है जिसमें

---

* "मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरसेन्यर्धमागधी। वाह्लीका दक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः" (१७, ४८)।

÷ "चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठिनां चार्धमागधी" (भरतीय नाट्यशास्त्र, निर्णयसागरीय संस्करण, १७, ५०)। मार्कण्डेय ने अपने व्याकरण में इस विषय में भरत का नाम देकर जो वचन उद्धृत किया है वह इस तरह है—"'राज्ञसीश्रेष्ठिचेटानुकर्म्यादेरर्धमागधी' इति भरतः" यह पाठान्तर ज्ञात होता है।

× प्राकृतसर्वस्व, पृष्ठ १०३।

अर्धमागधी के प्रयोगार्ह पात्रों का निर्देश है और इसके बाद उदाहरण के तौर पर वेणीसंहार की राक्षसी की एक उक्ति का उल्लेख कर अर्धमागधी का प्रकरण खतम किया है। इससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि भरत का अर्धमागधी-विषयक उक्त वचन और मार्कण्डेय का अर्धमागधी-विषयक उक्त लक्षण नाटकीय अर्धमागधी के लिए ही रचित है; जैन सूत्रों की अर्धमागधी के साथ इसका कोई संबन्ध नहीं है। क्रमदीश्वर ने अपने प्राकृत-व्याकरण में अर्धमागधी का जो लक्षण किया है वह यह है—"* महाराष्ट्री-मिश्राऽर्धमागधी" अर्थात् महाराष्ट्री से मिश्रित मागधी भाषा ही अर्धमागधी है। जान पड़ता है, क्रमदीश्वर का यह लक्षण भी नाटकीय अर्धमागधी के लिए ही प्रयोज्य है, क्योंकि उक्त नाट्यशास्त्र में जिन पात्रों के लिए अर्धमागधी के प्रयोग का नियम बताया गया है, अनेक नाटकों में उन पात्रों की भाषा भिन्न भिन्न है ÷। संभवतः इसी भिन्नता के कारण ही क्रमदीश्वर ने और मार्कण्डेय ने अर्धमागधी के भिन्न भिन्न लक्षण किये हैं।

महाराष्ट्री से अर्धमागधी प्राचीन है।

जैसे हम पहले कह चुके हैं, जैन सूत्रों की अर्धमागधी में इतर भाषाओं की अपेक्षा महाराष्ट्री के लक्षण अधिक देखने में आते हैं। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि ये लक्षण साहित्यिक महाराष्ट्री से जैन अर्धमागधी में नहीं आये हैं। इसका कारण यह है कि जैन सूत्रों की अर्धमागधी भाषा साहित्यिक महाराष्ट्री भाषा से अधिक प्राचीन है और इससे यही (अर्धमागधी) महाराष्ट्री का मूल कही जा सकती है। + डो. होर्नलि ने जैन अर्धमागधी को ही आर्ष प्राकृत कहकर इसीको परवर्ती काल में उत्पन्न नाटकीय अर्धमागधी, महाराष्ट्री और शौरसेनी भाषाओं का मूल माना है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण में महाराष्ट्री नाम न दे कर प्राकृत के सामान्य नाम से एक भाषा के लक्षण दिये हैं और उनके उदाहरण साधारण तौर से अर्वाचीन महाराष्ट्री-साहित्य से उद्धृत किये हैं; परन्तु जहाँ अर्धमागधी के प्राचीन जैन ग्रन्थों से उदाहरण लिये हैं वहाँ इसको आर्ष प्राकृत का विशेष नाम दिया है। इससे प्रतीत होता है कि आचार्य हेमचन्द्र ने भी एक ही भाषा के प्राचीन रूप को आर्ष प्राकृत और अर्वाचीन रूप को महाराष्ट्री मानते हुए आर्ष प्राकृत को महाराष्ट्री का मूल स्वीकार किया है।

अर्धमागधी शब्द की संगत व्युत्पत्ति।

नाटकीय अर्धमागधी में मागधी भाषा के लक्षण अधिकांश में पाये जाते हैं इससे 'मागधी से ही अर्धमागधी भाषा की उत्पत्ति हुई है और जैन सूत्रों की भाषा में मागधी के लक्षण अधिक न मिलने से वह अर्धमागधी कहलाने योग्य नहीं' यह जो भ्रान्त संस्कार कई लोगों के मन में जमा हुआ है, उसका मूल है अर्धमागधी शब्द को मागधी भाषा के अर्धांश में ग्रहण करना, अर्थात् 'अर्धं मागध्याः' यह व्युत्पत्ति कर 'जिसका अर्धांश मागधी भाषा वह अर्धमागधी' ऐसा करना। वस्तुतः अर्धमागधी शब्द की न वह व्युत्पत्ति ही सत्य है और न वह अर्थ ही। अर्धमागधी शब्द की वास्तविक व्युत्पत्ति है 'अर्धमगधस्येयम्' और इसके अनुसार इसका अर्थ है 'मगध देश के अर्धांश की जो भाषा वह अर्धमागधी'। यही बात ख्रिस्त की सातवीं शताब्दी के ग्रन्थकार श्रीजिनदासगणि महत्तर ने निशीथचूर्णि-नामक ग्रन्थ में "पोराणमद्धमागहभासानिययं हवइ सुत्तं" इस उल्लेख

---

* संक्षिप्तसार, पृष्ठ ३८। ÷ देखो भास-रचित कहे जाते चारुदत्त और स्वप्नवासवदत्त में क्रमशः चेट तथा चेटी की भाषा और शूद्रक के मृच्छकटिक में चेट और श्रेष्ठी चन्दनदास की भाषा।

+ "It thus seems to me very clear, that the Prākrit of Chanda is the ARSHA or ancient (Porana) form of the Ardhamāgadhi, Mahārāshtri and Sauraseni." (Introduction to Prākrita Lakshana of Chanda, Page XIX).

के 'अर्धमागध' शब्द की व्याख्या के प्रसङ्ग में इन स्पष्ट शब्दों में कही है :—"मगहद्धविसयभासानिबद्धं अद्धमागहं" अर्थात् मगध देश के अर्ध प्रदेश की भाषा में निबद्ध होने के कारण प्राचीन सूत्र 'अर्धमागध' कहा जाता है।

जैन अर्धमागधी का उत्पत्ति-स्थान और उसका 'महाराष्ट्री' के साथ सादृश्य का कारण।

परन्तु, अर्धमागधी का मूल उत्पत्ति-स्थान पश्चिम मगध अथवा मगध और शूरसेन का मध्यवर्ती प्रदेश (अयोध्या) होने पर भी जैन अर्धमागधी में मागधी और शौरसेनी भाषा के विशेष लक्षण देखने में नहीं आते। महाराष्ट्री के साथ ही इसका अधिक सादृश्य नजर आता है। यहाँ पर प्रश्न होता है कि इस सादृश्य का कारण क्या है? सर ग्रियर्सन ने अपने प्राकृत-भाषाओं के भौगोलिक विवरण में यह स्थिर किया है कि जैन अर्धमागधी मध्यदेश (शूरसेन) और मगध के मध्यवर्ती देश (अयोध्या) की भाषा थी एवं आधुनिक पूर्वीय हिन्दी उससे उत्पन्न हुई है। किन्तु हम देखते हैं कि अर्धमागधी के लक्षणों के साथ मागधी, शौरसेनी और आधुनिक पूर्वीय हिन्दी का कोई विशेष संबन्ध नहीं है, परन्तु महाराष्ट्री प्राकृत और आधुनिक मराठी भाषा के साथ उसका सादृश्य अधिक है। इसका कारण क्या? किसीने अभीतक यह ठीक ठीक नहीं बताया है। यह संभव है, जैसा हम पाटलिपुत्र के संमेलन के प्रसंग में ऊपर कह आये हैं, चन्द्रगुप्त के राजत्वकाल में (खिस्त-पूर्व ३१०) बारह वर्षों के अकाल के समय जैन मुनि-संघ पाटलीपुत्र से दक्षिण की ओर गया था। उस समय वहाँ के प्राकृत के प्रभाव से अंग-ग्रन्थों की भाषा का कुछ कुछ परिवर्तन हुआ था। यही महाराष्ट्री प्राकृत का आर्ष प्राकृत के साथ सादृश्य का कारण हो सकता है।

उत्पत्ति-समय।

सर आर. जि. भाण्डारकर जैन अर्धमागधी का उत्पत्ति-समय खिस्तीय द्वितीय शताब्दी मानते हैं। उनके मत में कोई भी साहित्यिक प्राकृत भाषा खिस्त की प्रथम या द्वितीय शताब्दी से पहले की नहीं है। सायद इसी मत का अनुसरण कर डो. सुनीतिकुमार चटर्जी ने अपनी Origin and Development of Bengalee Language नामक पुस्तक में (Introduction, page 18) समस्त नाटकीय प्राकृत-भाषाओं का और जैन अर्धमागधी का उत्पत्ति-काल खिस्तीय तृतीय शताब्दी स्थिर किया है। परन्तु त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित भास-रचित कहे जाते नाटकों का निर्माण-समय अन्ततः खिस्त की दूसरी शताब्दी के बाद का न होने से और अश्वघोष-कृत बौद्ध-धर्म-विषयक नाटकों के जो कतिपय अंश डो. ल्युडर्स ने प्रकाशित किये हैं उनका समय खिस्त की प्रथम शताब्दी निश्चित होने से यह प्रमाणित होता है कि उस समय भी नाटकीय प्राकृत भाषायें प्रचलित थीं। और, डो. ल्युडर्स ने यह स्वीकार किया है कि अश्वघोष के नाटकों में जैन अर्धमागधी भाषा के निदर्शन हैं। इससे जैन अर्धमागधी की प्राचीनता का यह भी एक विश्वस्त प्रमाण है। इसके अतिरिक्त, डो. जेकोबी जैन सूत्रों की भाषा और मथुरा के शिलालेखों (खिस्तीय सन् ८३ से १७६) की भाषा से यह अनुमान करते हैं कि जैन अंग-ग्रन्थों की अर्धमागधी का काल खिस्त-पूर्व चतुर्थ शताब्दी का शेष भाग अथवा खिस्त-पूर्व तृतीय शताब्दी का प्रथम भाग है। हम डो. जेकोबी के इस अनुमान को ठीक समझते हैं जो पाटलिपुत्र के उस संमेलन से संगति रखता है जिसका उल्लेख हम पूर्व में कर चुके हैं।

लक्षण।

संस्कृत के साथ महाराष्ट्री के जो प्रधान प्रधान भेद हैं, उनकी संक्षिप्त सूची महाराष्ट्री के प्रकरण में दी जायगी। यहाँ पर महाराष्ट्री से अर्धमागधी की जो मुख्य मुख्य विशेषताएँ हैं उनकी संक्षिप्त सूची दी जाती है। उससे अर्धमागधी के लक्षणों के साथ माहाराष्ट्री के लक्षणों की तुलना करने पर यह अच्छी तरह ज्ञात हो सकता है कि महाराष्ट्री की अपेक्षा अर्धमागधी की वैदिक और लौकिक संस्कृत से अधिक निकटता है जो अर्धमागधी की प्राचीनता का एक श्रेष्ठ प्रमाण कहा जा सकता है।

वर्ण-भेद।

१। दो स्वरों के मध्यवर्ती असंयुक्त क के स्थान में प्रायः सर्वत्र ग और अनेक स्थलों में त और य होता है; जैसे—

ग—प्रकल्प=पगप्प; आकर=आगर; आकाश=आगास; प्रकार=पगार; श्रावक=सावग; विवर्जक=विवज्जग; निषेवक=णिसेवग; लोक=लोग; आकृति=आगइ।

त—आराधक=आराहत (ठाणांगसूत्र—पत्र ३१७), सामायिक=सामातित (ठा० ३२२), विशुद्धिक=विशुद्धित (ठा० ३२२), अधिक=अहित (ठा० ३९३), शाकुनिक=साउणित (ठा० ३९३), नैषद्यिक=णेसज्जित (ठा० ३९७), वीरासनिक=वीरासणित (ठा० ३९७), वर्धकि=वड्ढति (ठा० ३९८), नैरयिक=नेरतित (ठा० ३९९), सीमंतक=सीमंतत (ठा० ४५८), नरकात्=नरकातो (ठा० ४५८), माडम्बिक=मार्डबित (ठा० ४५९), कौटुम्बिक=कोडुंबित (ठा० ४५९), सचक्षुष्केण=सचक्खुतेणं (विपाकश्रुत—पत्र ५), कृणिक=कूणित (विपा० ५ टि), अन्तिकात्=अंतितातो (विपा० ७), राहसिकेन=रहस्सितेणं (विपा० ४; १८) इत्यादि।

य—कायिक=काइय, लोक=लोय वगैरः।

२। दो स्वरों के बीच का असंयुक्त ग प्रायः कायम रहता है। कहीं कहीं इसका त और य होता है। जैसे—आगम=आगम, आगमन=आगमण, आनुगामिक=आणुगामिय, आगमिष्यत्=आगमिस्स, जागर=जागर, अगारिन्=अगारि, भगवन्=भगवं; अतिग=अतित (ठा० ३९७); सागर=सायर।

३। दो स्वरों के बीच के असंयुक्त च और ज के स्थान में त और य उभय हो होता है। च के उदाहरण, जैसे—नाराच=णाराय (ठा० ३५७), वचस्=वति (ठा० ३९८; ४५०), प्रवचन=पावतण (ठा० ४५१), कदाचित=कयाती (विपा० १७; ३०), वाचना=वायणा, उपचार=उवयार; लोच=लोय, आचार्य=आयरिय। ज के कुछ निदर्शन ये हैं—भोजिन्=भोति (सूअ० २, ६, १०), वज्र=वतिर (ठा० ३५७), पूजा=पूता (ठा० ३५८), राजेश्वर=रातीसर (ठा० ४५९), आत्मजः=अत्तते (विपा० ४ टि), प्रजात=पयाय, कामध्वजा=कामज्झया, आत्मज=अत्तय।

४। दो स्वरों का मध्यवर्ती त प्रायः कायम रहता है, कहीं कहीं इसका य होता है; यथा—वन्दते=वंदति, नमस्यति=नमंसति, पर्युपास्ते=पज्जुवासति (सूअ २, ७; विपा—पत्र ६), जितेन्द्रिय=जितिंदिय (सूअ २, ६, ५), सतत=सतत (सूअ १, १, ४, १२), भवति=भवति (ठा०—पत्र ३१७) अंतरित=अंतरित (ठा० ३४६), धैवत=धेवत (ठा० ३९३), जाति=जाति, आकृति=आगिति, विहरति=विहरति (विपा—४), पुरतः=पुरतो, करोति=करेति (विपा० ६), ततः=तते (विपा० ६; ७; ८), संदिसतु=संदिसतु, संलपति=संलवति (विपा० ७; ८), प्रभृति=पभिति (विपा० १५; १६), करतल=करयल।

५। स्वरों के बीच में स्थित द का द और त ही अधिकांश में देखा जाता है, कहीं कहीं य भी होता है, जैसे—

द—प्रदिशः=पदिसो (आचा), भेद=भेद, अनादिकं=अणादियं (सूअ २, ७), वदत्=वदमाण, नदति=णदति, जनपद=जणवद, वेदिष्यति=वेदिहिती (ठा०—पत्र क्रमशः ३२१,३९३,४५८,४५८) इत्यादि।

त—यदा=जता, पाद=पात, निषाद=निसात, नदी=नती, मृषावाद=मुसावात, वादिक=वातित, अन्यदा=अन्नता, कदाचित्=कताती (ठा०—पत्र क्रमशः ३१७, ३४६, ३९३, ३९७, ४५०, ४५१, ४५९, ४५९); यदि=जति, चिरादिक=चिरातीत (विपा० पत्र ४) इत्यादि।

य—प्रतिच्छादन=पडिच्छायण, चतुष्पद=चउप्पय वगैरः।

६। दो स्वरों के मध्य में स्थित प के स्थान में प्रायः सर्वत्र व ही होता है; यथा—पापक=पावग, संलपति=संलवति, सोपचार=सोवयार, अतिपात=अतिवात, उपनीत=उवणीय, अभ्युपपन्न=अब्भोववण्ण, उपगूढ=उवगूढ, आधिपत्य=आहेवच्च, तपक=तवय, व्यपरोपित=ववरोवित इत्यादि।

७। स्वरों के मध्यवर्ती य प्रायः कायम रहता है, अनेक स्थानों में इसका त देखा जाता है; जैसे—
य—वायव=वायव, प्रिय=पिय, निरय=निरय, इंद्रिय=इंदिय, गायति=गायइ प्रभृति।
त—स्यात्=सिता, सामायिक=सामातित, कायिक=कातित, पालयिष्यन्ति=पालतिस्संति, पर्याय=परितात, नायक=णातग, गायति=गातति, स्थायिन्=ठाति, शायिन्=साति, नैरयिक=नेरतित (ठा० पत्र क्रमशः ३१७, ३२२, ३२२, ३५७, ३५८, ३६३, ३६४, ३६७, ३६७, ३६६), इन्द्रिय=इंदित (ठा० ३२२, ३५५) इत्यादि।

८। दो स्वरों के बीच के व के स्थान में व, त और य होता है; यथा—
व—वायव=वायव, गौरव=गारव, भवति=भवति, अनुविचिन्त्य=अणुवीति (सूअ १, १, ३, १३) इत्यादि।
त—परिवार=परिताल, कवि=कति (ठा० पत्र क्रमशः ३५८, ३६३) इत्यादि।
य—परिवर्तन=परियट्टण, परिवर्तना=परियट्टणा (ठा० ३४६) वगैरः।

९। महाराष्ट्री में स्वर-मध्य-वर्ती असंयुक्त क, ग, च, ज, त, द, प, य, व इन व्यञ्जनों का प्रायः सर्वत्र लोप होता है और प्राकृतप्रकाश आदि प्राकृत-व्याकरणों के अनुसार इन लुप्त व्यञ्जनों के स्थान में अन्य कोई वर्ण नहीं होता। सेतुबन्ध, गाथासप्तशती और कर्पूरमञ्जरी आदि नाटकों की महाराष्ट्री भाषा में भी यह लक्षण ठीक ठीक देखने में आता है। आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण के अनुसार उक्त लुप्त व्यञ्जनों के दोनों तर्फ अवर्ण (अ या आ) होने पर लुप्त व्यञ्जन के स्थान में 'य्' होता है। 'गउडवहो' में यह 'य्' अधिक मात्रा में (उक्त व्यञ्जनों के पूर्व में अवर्ण-भिन्न स्वर रहने पर भी) पाया जाता है। परन्तु जैन अर्धमागधी में, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, प्रायः उक्त व्यञ्जनों के स्थान में अन्य अन्य व्यञ्जन होते हैं और कहीं कहीं तो वही व्यञ्जन कायम रहता है। हाँ, कहीं कहीं उक्त व्यञ्जनों के स्थान में अन्य व्यञ्जन होने या वही व्यञ्जन रहने के बदले महाराष्ट्री की तरह लोप भी देखा जाता है, किन्तु यह लोप वहाँ पर ही देखने में आता है जहाँ उक्त व्यञ्जनों के बाद अ या आ से भिन्न कोई स्वर होता है; जैसे—लोकः=लोओ, रोचित=रोइत, भोजिन्=भोइ, आतुर=आउर, आदेशि=आएसि, कायिक=काइय, आवेश=आएस वगैरः।

१०। शब्द की आदि में, मध्य में और संयोग में सर्वत्र ण की तरह न भी होता है, जैसे—नदी=नई, ज्ञातपुत्र=नायपुत्त, आरनाल=आरनाल, अनल=अनल, अनिल=अनिल, प्रज्ञा=पन्ना, अन्योन्य=अन्नमन्न, विज्ञ=विन्नु, सर्वज्ञ=सव्वन्नु इत्यादि।

११। एव के पूर्व के अम् के स्थान में आम् होता है, यथा—यामेव=जामेव, तामेव=तामेव, क्षिप्रमेव=खिप्पामेव, एवमेव=एवामेव, पूर्वमेव=पुव्वामेव इत्यादि।

१२। दीर्घ स्वर के बाद के इति वा के स्थान में ति वा और इ वा होता है, जैसे—इन्द्रमह इति वा=इंदमहे ति वा, इंदमहे इ वा इत्यादि।

१३। यथा और यावत् शब्द के य का लोप और ज दोनों ही देखे जाते हैं, जैसे—यथाख्यात=अहक्खाय, यथाजात=अहाजात, यथानामक=जहाणामए, यावत्कथा=आवकहा, यावज्जीव=जावजीव।

वर्णागम।

१। गद्य में भी अनेक स्थलों में समास के उत्तर शब्द के पहले म् आगम होता है, यथा—निरयंगामी, उड्ढंगारव, दीहंगारव, रहस्संगारव, गोणमाइ, सामाइयमाइयाइं, अजहण्णमणुक्कोस, अदुक्खमसुहा आदि। महाराष्ट्री में पद्य में पादपूर्त्ति के लिए ही कहीं कहीं म् आगम देखा जाता है, गद्य में नहीं।

शब्द-भेद ।

१। अर्धमागधी में ऐसे प्रचुर शब्द हैं जिनका प्रयोग महाराष्ट्री में प्रायः उपलब्ध नहीं होता; यथा—अज्झत्थिय, अज्झोववण्ण, अणुवीति, आघवण्ण, आघवेत्तग, आणापाणू, आवीकम्म, कयहुइ, केमहालय, दुरूढ, पच्चत्थिमिल्ल, पाउकुव्वं, पुरत्थिमिल्ल, पोरेवच्च, महतिमहालिया, वक्क, विउस इत्यादि ।

२। ऐसे शब्दों की संख्या भी बहुत बड़ी है जिनके रूप अर्धमागधी और महाराष्ट्री में भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। उनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

अर्धमागधी	महाराष्ट्री	अर्धमागधी	महाराष्ट्री
अभियागम	अब्भागम	नितिय	णिच्च
आउंटण	आउंचण	निएय	णिअअ
आहरण	उआहरण	पडुप्पन्न	पच्चुप्पण्ण
उप्पि	उवरिं, अवरिं	पच्छेकम्म	पच्छाकम्म
किया	किरिआ	पाय (पात्र)	पत्त
कीस, केस	केरिस	पुढो (पृथक्)	पुहं, पिहं
केवच्चिर	किअच्चिर	पुरेकम्म	पुराकम्म
गेहि	गिद्धि	पुव्विं	पुव्वं
चियत्त	चइअ	माय (मात्र)	मत्त, मेत्त
छच्च	छक्क	माहण	बम्हण
जाया	जत्ता	मिलक्खु, मेच्छ	मिलिच्छ
णिगण, णिगिण (नग्न)	णग्ग	वग्गू	वाआ
णिगिणिण (नाग्न्य)	णग्गत्तण	वाहण (उपानह्)	उवाणआ
तच्च (तृतीय)	तइअ	सहेज्ज	सहाअ
तच्च (तथ्य)	तच्छ	सीआण, सुसाण	मसाण
तेगिच्छा	चिइच्छा	सुमिण	सिमिण
दुवालसंग	बारसंग	सुहम, सुहुम	सण्ह
दोच्च	दुइअ	सोहि	सुद्धि

और, दुवालस, बारस, तेरस, अउणावीसइ, बत्तीस, पणतीस, इगयाल, तेयालीस, पणयाल, अदयाल, एगट्ठि, बावट्ठि, तेवट्ठि, छावट्ठि, अदसट्ठि, अउणात्तरि, बावत्तरि, पणयात्तरि, सत्तहत्तरि, तेयासी, छलसीइ, बाणउइ प्रभृति संख्या-शब्दों के रूप अर्धमागधी में मिलते हैं, महाराष्ट्री में वैसे नहीं ।

नाम-विभक्ति ।

१। अर्धमागधी में पुंलिंग अकारान्त शब्द के प्रथमा के एकवचन में प्रायः सर्वत्र ए और क्वचित् ओ होता है, किन्तु महाराष्ट्री में ओ ही होता है ।

२। सप्तमी का एकवचन सिं होता है जब महाराष्ट्री में म्मि ।

३। चतुर्थी के एकवचन में आए या आते होता है, जैसे—देवाए, सवणाए, गमणाए, अट्ठाए, अहिताते, असुभाते, अखमाते (ठा० पत्र ३५८) इत्यादि, महाराष्ट्री में यह नहीं है ।

४। अनेक शब्दों के तृतीया के एकवचन में सा होता है, यथा—मणसा, वयसा, कायसा, जोगसा, बलसा, चक्खुसा; महाराष्ट्री में इनके स्थान में क्रमशः मणेण, वएण, काएण, जोगेण, बलेण, चक्खुणा ।

५। कम्म और धम्म शब्द के तृतीया के एकवचन में पालि की तरह कम्मुणा और धम्मुणा होता है, जब कि महाराष्ट्री में कम्मेण और धम्मेण ।

६। अर्धमागधी में तत् शब्द के पञ्चमी के बहुवचन में तेभ्यो रूप भी देखा जाता है।

७। युष्मत् शब्द का षष्ठी का एकवचन संस्कृत की तरह तव और अस्मत् का षष्ठी का बहुवचन अस्माकं अर्धमागधी में पाया जाता है जो महाराष्ट्री में नहीं है।

आख्यात-विभक्ति।

१। अर्धमागधी में भूतकाल के बहुवचन में इंसु प्रत्यय है, जैसे—पुच्छिंसु, गच्छिंसु, आभासिंसु इत्यादि। महाराष्ट्री में यह प्रयोग लुप्त हो गया है।

धातु-रूप।

१। अर्धमागधी में आइक्खइ, कुव्वइ, भुविं, होक्खती, बूया, अब्बवी, होत्था, हुत्था, पहारेत्था, आघं, दुरूहइ, विगिंचए, तिवायए, अकासी, तिउट्टई, तिउट्टिज्जा, पडिसंधयाति, सारयती, घेच्छिइ, समुच्छिहिंति, आहंसु प्रभृति प्रभूत प्रयोगों में धातु की प्रकृति, प्रत्यय अथवा ये दोनों जिस अकार में पाये जाते हैं, महाराष्ट्री में वे भिन्न भिन्न प्रकार के देखे जाते हैं।

धातु-प्रत्यय।

१। अर्धमागधी में त्वा प्रत्यय के रूप अनेक तरह के होते हैं :—

(क) ट्टु; जैसे—कट्टु, साहट्टु, अवहट्टु इत्यादि।

(ख) इत्ता, एत्ता, इत्ताणं और एत्ताणं; यथा—चइत्ता, विउट्टित्ता, पासित्ता, करेत्ता, पासित्ताणं करेत्ताणं इत्यादि।

(ग) इत्तु; यथा—दुरूहित्तु, जाणित्तु, वधित्तु प्रभृति।

(घ) च्चा; जैसे—किच्चा, गच्चा, सोच्चा, भोच्चा, चेच्चा वगैरः।

(ङ) इया; यथा—परिजाणिया, दुरूहिया आदि।

(च) इनके अतिरिक्त विउक्कम्म, निसम्म, समिच्च, संखाए, अणुवीति, लद्धुं, लद्धूण, दिस्सा इत्यादि प्रयोगों में 'त्वा' के रूप भिन्न भिन्न तरह के पाये जाते हैं।

२। तुम् प्रत्यय के स्थान में इत्तए या इत्तते प्रायः देखने में आता है, जैसे—करित्तए, गच्छित्तए, संभुंजित्तए, उवसामित्तते, (विपा० १३), विहरित्तए आदि।

३। ऋकारान्त धातु के त प्रत्यय के स्थान में ड होता है, जैसे—कड, मड, अभिहड, वावड, संवुड, वियड, वित्थड प्रभृति।

तद्धित।

१। तर प्रत्यय का तराय रूप होता है, यथा—अणिट्ठतराए, अप्पतराए, बहुतराए, कंततराए इत्यादि।

२। आउसो, आउसंतो, गोमी, बुसिमं, भगवंतो, पुरत्थिम, पच्चत्थिम, ओयंसी, दोसिणो, पोरेवच्च आदि प्रयोगों में मतुप्, और अन्य तद्धित प्रत्ययों के जैसे रूप जैन अर्धमागधी में देखे जाते हैं, महाराष्ट्री में वे भिन्न तरह के होते हैं।

महाराष्ट्री से जैन अर्धमागधी में इनके अतिरिक्त और भी अनेक सूक्ष्म भेद हैं जिनका उल्लेख विस्तार-भय से यहाँ नहीं किया गया है।

---

(५) जैन महाराष्ट्री ।

नाम-निर्देश और साहित्य ।

जैन सूत्र-ग्रन्थों के सिवा श्वेताम्बर जैनों के रचे हुए अन्य ग्रन्थों की प्राकृत भाषा को 'जैन महाराष्ट्री' नाम दिया गया है। इस भाषा में तीर्थंकर और प्राचीन मुनिओं के चरित्र, कथायें, दर्शन, तर्क, ज्योतिष, भूगोल, स्तुति आदि विषयों का विशाल साहित्य विद्यमान है।

प्राकृत के प्राचीन वैयाकरणों ने 'जैन महाराष्ट्री' यह नाम दे कर किसी भिन्न भाषा का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने, व्याकरण, काव्य और नाटक-ग्रन्थों में महाराष्ट्री का जो रूप देखा जाता है उससे श्वेताम्बर जैनों के ग्रन्थों की भाषा में कुछ कुछ पार्थक्य देख कर, इसको 'जैन महाराष्ट्री' नाम दिया है। इस भाषा में प्राकृत-व्याकरणों में बताये हुए महाराष्ट्री भाषा के लक्षण विशेष रूप से मौजुद होने पर भी जैन अर्धमागधी का बहुत-कुछ प्रभाव देखा जाता है।

समय ।

जैन महाराष्ट्री के कतिपय ग्रन्थ प्राचीन हैं। यह द्वितीय स्तर के प्रथम युग के प्राकृतों में स्थान पा सकती है। पयन्ना-ग्रन्थ, निर्युक्तियाँ, पउमचरिअ, उपदेशमाला प्रभृति ग्रन्थ प्रथम युग की जैन महाराष्ट्री के उदाहरण हैं। बृहत्कल्प-भाष्य, व्यवहारसूत्र-भाष्य, विशेषावश्यक-भाष्य, निशीथचूर्णि, धर्मसंग्रहणी, समराइच्चकहा-प्रभृति ग्रन्थ मध्य-युग और शेष-युग में रचित होने पर भी इनकी भाषा प्रथम युग की जैन महाराष्ट्री के समान है। दशम शताब्दी के बाद रचे गये प्रवचनसारोद्धार, उपदेशपदटीका, सुपासनाहचरिअ, उपदेशरहस्य, भाषारहस्य प्रभृति ग्रन्थों की भाषा भी प्रायः प्रथम युग की जैन महाराष्ट्री के ही अनुरूप है। इससे यहाँ पर यह कहना होगा कि जैन महाराष्ट्री के ये ग्रन्थ आधुनिक काल में रचित होने पर भी उसकी भाषा, संस्कृत की तरह, अतिप्राचीन काल में ही उत्पन्न हुई थी और यह भी अनुमान किया जा सकता है कि जैन महाराष्ट्री क्रमशः परिवर्तित हो कर मध्य-युग की व्यञ्जन-लोप-बहुल महाराष्ट्री में रूपान्तरित हुई है।

लक्षण ।

अर्धमागधी के जो लक्षण पहले बताये गये हैं उनमें से अनेक इस भाषा में भी पाये जाते हैं। ऐसे लक्षणों में कुछ ये हैं :—

१। क के स्थान में अनेक स्थलों में ग।
२। लुप्त व्यञ्जनों के स्थान में य।
३। शब्द की आदि और मध्य में भी ण की तरह न।
४। यथा और यावत् के स्थान में क्रमशः जहा और जाव की तरह अहा और आव भी।
५। समास में उत्तर पद के पूर्व में 'म्' का आगम।
६। पाय, माय, तेगिच्छग, पडुप्पण्ण, साहि, सुहुम, सुमिण आदि शब्दों का भी, पत्त, मेत्त, चेइच्छय आदि की तरह प्रयोग।
७। तृतीया के एकवचन में कहीं कहीं सा प्रत्यय।
८। आइक्खइ, कुव्वइ प्रभृति धातु-रूप।
९। सोच्चा, किच्चा, वंदित्तु आदि त्वा प्रत्यय के रूप।
१०। कड, वावड, संवुड, प्रभृति त-प्रत्ययान्त रूप।

---

(६) अशोक-लिपि ।

सम्राट् * अशोक ने भारतवर्ष के भिन्न भिन्न स्थानों में अपने धर्म के उपदेशों को शिलाओं में खुदवाये थे। ये सब शिलालेख उस समय में प्रचलित भिन्न भिन्न प्रादेशिक भाषाओं में रचित हैं। भाषा-साम्य की दृष्टि से ये सब शिलालेख प्रधानतः इन तीन भागों में विभक्त किये जा सकते हैं :—

(१) पंजाब के शिलालेख । इनका भाषा संस्कृत के अनुरूप है। इनमें र का लोप नहीं देखा जाता।

(२) पूर्व भारत के शिलालेख । इनकी भाषा का मागधी के साथ सादृश्य देखने में आता है। इनमें र के स्थान में सर्वत्र ल है।

(३) पश्चिम भारत के शिलालेख । ये उज्जयिनी की उस भाषा में है जिसका पालि के साथ अधिक साम्य है।

इन तीनों प्रकार के शिलालेखों के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं जिन पर से इनका भेद अच्छी तरह समझ में आ सकता है।

संस्कृत।	कपर्दगिरि (पंजाब)।	धौलि (उडिसा)।	गिरनार (गूजरात)।
देवानांप्रियस्य	देवानंप्रियस	देवानंपियस	देवानंपियस
राज्ञः	रञो	लजिने	रानो, रनो
वृत्ताः	—	लुखनि	वच्छा
शुश्रूषा	सुश्रुषा	सुसूसा	सुसुसा
नास्ति	नस्ति, नास्ति	नाथि, नथि, नथा	नास्ति

इन शिलालेखों का समय ख्रिस्त-पूर्व २५० वर्ष का है।

इन शिलालेखों की भाषा की उत्पत्ति भगवान महावीर की एवं संभवतः बुद्धदेव की उपदेश-भाषा से ही हुई है †।

---

(७) सौरसेनी ।

संस्कृत-नाटकों में प्राकृत गद्यांश सामान्य रूप से सौरसेनी भाषा में लिखा गया है। अश्वघोष के नाटकों में एक तरह की सौरसेनी के उदाहरण पाये जाते हैं जो पालि और अशोकलिपि की भाषा के अनुरूप और पिछले काल के नाटकों में प्रयुक्त सौरसेनी की अपेक्षा प्राचीन है। भास के, कालिदास के और इनके बाद के अधिक नाटकों में सौरसेनी के निदर्शन देखे जाते हैं।

निदर्शन।

वररुचि, हेमचन्द्र, क्रमदीश्वर, लक्ष्मीधर और मार्कण्डेय आदि के प्राकृत-व्याकरणों में सौरसेनी भाषा के लक्षण और उदाहरण पाये जाते हैं।

दण्डी, रुद्रट और वाग्भट आदि संस्कृत के आलंकारिकों ने भी इस भाषा का उल्लेख किया है।

---

* हाल ही में डो. लिभुवनदास लहेरचंद ने अपने एक गूजराती लेख में अनेक प्रमाणों और युक्तिओं से यह सिद्ध किया है कि अशोक के शिलालेखों के नाम से प्रसिद्ध शिलालेख सम्राट् अशोक के नहीं, परन्तु जैन सम्राट् संप्रति के खुदवाये हुए हैं।

† See Dr. A. B. Keith's Sanskrit Drama, Page 87.

विनियोग।

भरत के नाट्यशास्त्र में सौरसेनी भाषा का उल्लेख है, उन्होंने नाटक में नायिका और सखीओं के लिए इस भाषा का प्रयोग बताया है *।

प्राच्या भाषा सौरसेनी के अन्तर्गत।

भरत ने विदूषक की भाषा प्राच्या कही है †, परन्तु मार्कण्डेय के व्याकरण में प्राच्या भाषा के जो लक्षण दिये गये हैं उनसे और नाटकों में प्रयुक्त विदूषक की भाषा पर से यह मालूम होता है कि सौरसेनी से इस भाषा (प्राच्या) का कुछ विशेष भेद नहीं है। इससे हमने भी प्रस्तुत कोष में उसका अलग उल्लेख न करके सौरसेनी में हीं अन्तर्भाव किया है।

जैन सौरसेनी।

दिगम्बर जैनों के प्रवचनसार, द्रव्यसंग्रह प्रभृति ग्रन्थ भी एक तरह की सौरसेनी भाषा में ही रचित हैं। यह भाषा श्वेताम्बरों की अर्धमागधी और प्राकृत-व्याकरणों में निर्दिष्ट सौरसेनी के मिश्रण से बनी हुई है। इस भाषा को 'जैन सौरसेनी' नाम दिया गया है। जैन सौरसेनी मध्ययुग की जैन महाराष्ट्री की अपेक्षा जैन अर्धमागधी से अधिक निकटता रखती है और मध्ययुग की जैन महाराष्ट्री से प्राचीन है।

सौरसेनी भाषा की उत्पत्ति ‡ सूरसेन देश अर्थात् मथुरा प्रदेश से हुई है।

प्रकृति।

वररुचि ने अपने व्याकरण में संस्कृत को ही सौरसेनी भाषा की प्रकृति अर्थात् मूल कहा है ÷। किन्तु यह हम पहले ही प्रमाणित कर चुके हैं कि किसी प्राकृत भाषा की उत्पत्ति संस्कृत से नहीं हुई है। सुतरां, सौरसेनी प्राकृत का मूल भी वैदिक या लौकिक संस्कृत नहीं है। सौरसेनी और संस्कृत ये दोनों ही वैदिक युग में प्रचलित सूरसेन अथवा मध्यदेश की कथ्य प्राकृत भाषा से ही उत्पन्न हुई हैं। संस्कृत भाषा पाणिनि-प्रभृति के व्याकरण द्वारा नियन्त्रित होने के कारण परिवर्तन-हीन मृत-भाषा में परिणत हुई। वैदिक काल की सौरसेनी ने प्राकृत-व्याकरण द्वारा नियन्त्रित न होने के कारण क्रमशः परिवर्तित होते हुए पिछले समय की सौरसेनी भाषा का आकार धारण किया। पिछले समय की यह सौरसेनी भी बाद में प्राकृत-व्याकरणों के द्वारा जकड़े जाने के कारण संस्कृत की तरह परिवर्तन-शून्य हो कर मृत-भाषा में परिणत हुई है।

समय।

अश्वघोष के नाटकों में जिस सौरसेनी भाषा के उदाहरण मिलते हैं वह अशोकलिपि की समसामयिक कही जा सकती है। भास के नाटकों की सौरसेनी का और जैन सौरसेनी का समय संभवतः ख्रिस्त की प्रथम या द्वितीय शताब्दी मालूम होता है।

लक्षण।

महाराष्ट्री भाषा के साथ सौरसेनी भाषा का जिस् जिस अंश में भेद है वह नीचे दिया जाता है। इसके सिवा महाराष्ट्री भाषा के जो लक्षण उसके प्रकरण में दिये जायंगे उनमें

---

* "नायिकानां सखीनां च सूरसेनाविरोधिनी" (नाट्यशास्त्र १७, ५१)।

† "प्राच्या विदूषकादीनां" (नाट्यशास्त्र १७, ५१)।

‡ पन्नवणासूत्र के "सोत्तियमइया (?मई य) चेदी वीयभयं सिंधुसोवीरा। महुरा य सूरसेणा पावा भंगी य मासपुरिवट्टा" (पत्र ६१) इस पाठ पर "चेदिषु शुक्तिकावती, वीतभयं सिन्धुषु, सौवीरेषु मथुरा, सूरसेनेषु पापा, भङ्गे(?ङ्गि)षु मासपुरिवट्टा" इस तरह व्याख्या करते हुए आचार्य मलयगिरि ने सूरसेन देश की राजधानी पावा बतलाकर आजकल के बिहार प्रदेश को ही सूरसेन कहा है। नेमिचन्द्रसूरि ने अपने प्रवचनसारोद्धार-नामक ग्रन्थ में पन्नवणासूत्र के उक्त पाठ को अविकल रूप में उद्धृत किया है। इसकी टीका में श्रीसिद्धसेनसूरि ने आचार्य मलयगिरि की उक्त व्याख्या को 'अतिव्यवहृत' कह कर, उक्त मूल पाठ की व्याख्या इस तरह की है:—शुक्तीमती नगरी चेदयो देशः, वीतभयं नगरं सिन्धुसौवीरा जनपदः, मथुरा नगरी सूरसेनाख्यो देशः, पापा नगरी भङ्ग्यो देशः, मासपुरी नगरी वर्तो देशः" (दे० ला० संस्करण, पत्र ४४६)। ÷ प्राकृतप्रकाश १२, २।

महाराष्ट्री के साथ सौरसेनी का कोई भेद नहीं है। इन भेदों पर से यह ज्ञात होता है कि अनेक स्थलों में महाराष्ट्री की अपेक्षा सौरसेनी का संस्कृत के साथ पार्थक्य कम और सादृश्य अधिक है।

वर्ण-भेद।

१। स्वर-वर्णों के मध्यवर्ती असंयुक्त त और द के स्थान में द होता है, यथा—रजत=रअद, गदा=गदा।
२। स्वरों के बीच असंयुक्त थ का ह और ध दोनों होते हैं, जैसे—नाथ=णाध, णाह।
३। र्य के स्थान में य्य और ज होता है, यथा—आर्य=अय्य, अज; सूर्य=सुय्य, सुज।

नाम-विभक्ति।

१। पञ्चमी के एकवचन में दो और दु ये दो ही प्रत्यय होते हैं और इनके योग में पूर्व के अकार का दीर्घ होता है, यथा—जिनात्=जिणादो, जिणादु।

आख्यात।

१। ति और ते प्रत्ययों के स्थान में दि और दे होता है, जैसे—हसदि, हसदे, रमदि, रमदे।
२। भविष्यत्काल के प्रत्यय के पूर्व में स्सि लगता है, यथा—हसिस्सिदि, करिस्सिदि।

सन्धि।

१। अन्त्य मकार के बाद इ और ए होने पर ण् का वैकल्पिक आगम होता है, यथा—युक्तम् इदम्=जुत्तं णिमं, जुत्तमिमं; एवम् एतत्=एवं णेदं, एवमेदं।

कृदन्त।

१। त्वा प्रत्यय के स्थान में इअ, दूण और त्ता होते हैं, यथा—पठित्वा=पढिअ, पढिदूण, पढित्ता।

---

(८) मागधी।

निदर्शन।

मागधी प्राकृत के सर्व-प्राचीन निदर्शन अशोक-साम्राज्य के उत्तर और पूर्व भागों के खालसी, मिरट, लौरिया (Lauriya), सहसराम, बराबर (Barābar), रामगढ, धौलि और जौगढ (Jaugada) प्रभृति स्थानों के अशोक-शिलालेखों में पाये जाते हैं। इसके बाद नाटकीय प्राकृतों में मागधी भाषा के उदाहरण देखे जाते हैं। नाटकीय मागधी के सर्व-प्राचीन नमूने अश्वघोष के नाटकों के खण्डित अंशों में मिलते हैं। भास के नाटकों में, कालिदास के नाटकों में और मृच्छकटिक आदि नाटकों में मागधी भाषा के उदाहरण विद्यमान हैं।

विनियोग।

वररुचि के प्राकृतप्रकाश, चण्ड के प्राकृतलक्षण, हेमचन्द्र के सिद्धहेमचन्द्र (अष्टम अध्याय), क्रमदीश्वर के संक्षिप्तसार, लक्ष्मीधर की षड्भाषाचन्द्रिका और मार्कण्डेय के प्राकृतसर्वस्व आदि प्रायः समस्त प्राकृत-व्याकरणों में मागधी भाषा के लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं।

भरत के नाट्यशास्त्र में मागधी भाषा का उल्लेख है और उन्होंने नाटक में राजा के अन्तःपुर में रहने वाले, सुरंग खोदने वाले, कलवार, अश्वपालक वगैरः पात्रों के लिए और विपत्ति में नायक के लिए भी इस भाषा का प्रयोग करने को कहा है *। परन्तु मार्कण्डेय

---

* "मागधी तु नरेन्द्राणामन्तःपुरनिवासिनाम्" (नाट्यशास्त्र १७, ५०)।
"सुरङ्गाखनकादीनां शुण्डकाराश्वरक्षिणाम्। व्यसने नायकानां स्यादात्मरक्षासु मागधी॥" (नाट्यशास्त्र १७,५६)।

ने अपने प्राकृतसर्वस्व में उद्धृत किये हुए कोहल के "राक्षसभिक्षुक्षपणकचेटाद्या मागधीं प्राहुः" इस वचन से मालूम होता है कि भरत के कहे हुए उक्त पात्रों के अतिरिक्त भिक्षु, क्षपणक आदि अन्य लोग भी इस भाषा का व्यवहार करते थे। रुद्रट, वाग्भट, हेमचन्द्र आदि आलंकारिकों ने भी अपने अपने अलंकार-ग्रन्थों में इस भाषा का उल्लेख किया है।

उत्पत्ति-स्थान।

मगध देश ही मागधी भाषा का उत्पत्ति-स्थान है। मगध देश की सीमा के बाहर भी अशोक के शिलालेखों में जो इसके निदर्शन पाये जाते हैं उसका कारण यह है कि मागधी भाषा उस समय राज-भाषा होने के कारण मगध के बाहर भी इसका प्रचार हुआ था। संभवतः राज-भाषा होने के कारण ही नाटकों में सर्वत्र ही राजा के अन्तःपुर के लोगों के लिए इस भाषा का व्यवहार करने का नियम हुआ था। प्राचीन भिक्षु और क्षपणक भी मगध के ही निवासी होने से, संभव है, नाटकों में इनकी भाषा भी मागधी ही निर्दिष्ट की गई है।

प्रकृति।

वररुचि ने अपने प्राकृत-व्याकरण में मागधी की प्रकृति—मूल—होने का सम्मान सौरसेनी को दिया है *। इसीका अनुसरण कर मार्कण्डेय ने भी सौरसेनी से ही मागधी की सिद्धि कही है †। किन्तु मागधी और सौरसेनी आदि प्रादेशिक भाषाओं का भेद अशोक के शिलालेखों में भी देखा जाता है। इससे यह सिद्ध है कि ये सब प्रादेशिक भेद प्राचीन और समसामयिक हैं, एक प्रदेश की भाषा से दूसरे प्रदेश में उत्पन्न नहीं हुए हैं। जैसे सौरसेनी मध्यदेश में प्रचलित वैदिक युग की कथ्य भाषा से उत्पन्न हुई है वैसे मागधी ने भी उस कथ्य भाषा से जन्म-ग्रहण किया है जो वैदिककाल में मगध देश में प्रचलित थी।

समय।

अशोक-शिलालेखों की और अश्वघोष के नाटकों की मागधी भाषा प्रथम युग की मागधी भाषा के निदर्शन हैं। भास के और परवर्ती काल के अन्य नाटकों की और प्राकृत-व्याकरणों की मागधी मध्य-युग की मागधी भाषा के उदाहरण हैं।

शाकारी आदि भाषाएँ मागधी के अन्तर्गत हैं।

शाकारी, चाण्डाली और शाबरी ये तीन भाषायें मागधी के ही प्रकार-भेद—रूपान्तर—हैं। भरत ने शाकारी भाषा का व्यवहार शबर, शक आदि और उसी प्रकृति के अन्य लोगों के लिए कहा है ‡ किन्तु मार्कण्डेय ने राजा के साले की भाषा शाकारी बतलाई है ×। भरत पुक्कस आदि जातिओं की व्यवहार-भाषा को चाण्डाली और अंगारकार, व्याध, कठहार और यन्त्र-जीवी लोगों की भाषा को शाबरी कहते है ÷। इन तीनों भाषाओं के जो लक्षण और उदाहरण मार्कण्डेय के प्राकृत-व्याकरण में और नाटकों के उक्त पात्रों की भाषा में पाये जाते हैं उनमें और इतर प्राकृत-व्याकरणों की मागधी भाषा के लक्षण और उदाहरणों में तथा नाटकों के मागधी-भाषा-भाषी पात्रों की भाषा में इतना कम भेद और इतना अधिक साम्य है कि उक्त तीन भाषाओं को मागधी से अलग नहीं कही जा सकतीं। यही कारण है कि हमने प्रस्तुत कोष में इन भाषाओं का मागधी में ही समावेश किया है।

---

* "प्रकृतिः सौरसेनी" (प्राकृतप्रकाश ११, २)।

† "मागधी शौरसेनीतः" (प्राकृतसर्वस्व, पृष्ठ १०१)।

‡ "शबराणां शकादीनां तत्स्वभावश्च यो गणः। शकारभाषा योक्तव्या" (नाट्यशास्त्र १७, ५३)।

× "शकारस्येयं शाकारी, शकारश्च
'राज्ञोऽनुढाभ्राता श्यालस्त्वैश्वर्यसंपन्नः।
मदमूर्खताभिमानी शकार इति दुष्कुलीनः स्यात्' इत्युक्तेः" (प्राकृतसर्वस्व, पृष्ठ १०५)।

÷ "चाण्डाली पुक्कसादिषु। अंगारकरव्याधानां काष्ठयन्त्रोपजीविनाम्। योज्या शबरभाषा तु" (नाट्यशास्त्र १७, ५३-४)।

ढक्की या टाक्की भाषा।

मृच्छकटिक के पात्र माथुर और दो द्यूतकारों की भाषा को 'ढक्की' नाम दिया गया है। यह भी मागधी भाषा का ही एक रूपान्तर प्रतीत होता है। मार्कण्डेय ने 'ढक्की' का ही 'टाक्की' नाम से निर्देश किया है, यह उन्होंने वहाँ पर उद्धृत किये हुए एक श्लोक से ज्ञात होता है *। मार्कण्डेय ने पदान्त में उ, तृतीया के एकवचन में ए, पञ्चमी के बहुवचन में हुम् आदि जो इस भाषा के लक्षण दिये हैं उनपर से इसमें अपभ्रंश का ही विशेष साम्य नजर आता है। इस लिए मार्कण्डेय ने वहाँ पर जो यह कहा है कि 'हरिश्चन्द्र इस भाषा को अपभ्रंश मानता है §' वह मत हमें भी संगत मालूम पड़ता है।

लक्षण।

मागधी भाषा का सौरसेनी के साथ जो प्रधान भेद है वह नीचे दिया जाता है। इसके सिवा अन्य अंशों में मागधी भाषा साधारणतः सौरसेनी के ही अनुरूप है।

वर्ण-भेद।

१। र के स्थान में सर्वत्र ल होता है +; यथा—नर=णल; कर=कल।

२। श, ष और स के स्थान में तालव्य श होता है; यथा—शोभन=शोहण; पुरुष=पुलिश; सारस=शालश।

३। संयुक्त ष और स के स्थान में दन्त्य सकार होता है; यथा—शुष्क=शुस्क; कष्ट=कस्ट; स्खलति=स्खलदि; बृहस्पति=बुहस्पदि।

४। ट्ट और ष्ठ के स्थान में स्ट होता है; यथा—पट्ट=पस्ट; सुष्ठु=शुस्टु।

५। स्थ और र्थ की जगह स्त होता है; जैसे—उपस्थित=उवस्तिद; सार्थ=शस्त।

६। ज, द्य और य के बदले य होता है; यथा—जानाति=याणादि, दुर्जन=दुय्यण; मद्य=मय्य, अद्य=अय्य; याति=यादि, यम=यम।

७। न्य, ण्य, ज्ञ और ञ्ज के स्थान में ञ्ञ होता है; यथा—अन्य=अञ्ञ; पुण्य=पुञ्ञ; प्रज्ञा=पञ्ञा; अञ्जलि=अञ्ञलि।

८। अनादि छ के स्थान में श्च होता है; यथा—गच्छ=गश्च, पिच्छिल=पिश्चिल।

९। क्ष की जगह स्क होता है ÷, जैसे—राक्षस=लस्कश, यक्ष=यस्क।

नाम-विभक्ति।

१। अकारान्त पुंलिंग-शब्द के प्रथमा के एकवचन में ए होता है; यथा—जिनः=यिणे, पुरुषः=पुलिशे।

२। अकारान्त शब्द के षष्ठी का एकवचन स्स और आह होता है; यथा—जिनस्य=यिणास्स, यिणाह।

३। अकारान्त शब्द के षष्ठी के बहुवचन में आण और आहँ ये दोनों होते हैं; जैसे—जिनानाम्=यिणाण, यिणाहँ।

४। अस्मत् शब्द के प्रथमा के एकवचन और बहुवचन का रूप हगे होता है।

---

* "प्रयुज्यते नाटकादौ द्यूतादिव्यवहारिभिः।
वणिग्भिर्हीनदेहैश्च तदाहुष्टक्कभाषितम्" (प्राकृतसर्वस्व, पृष्ठ ११०)।

§ "हरिश्चन्द्रस्त्विमां भाषामपभ्रंश इतीच्छति" (प्राकृतस० पृष्ठ ११०)।

+ मार्कण्डेय यह नियम वैकल्पिक मानते हैं; "रस्य लो वा भवेत्" (प्राकृतस० पृष्ठ १०१)।

÷ हेमचन्द्र-प्राकृत-व्याकरण के अनुसार 'क्ष' की जगह जिह्वामूलीय 'ᚷक' होता है; देखो हे० प्रा० ४, २९६।

(६) महाराष्ट्री।

निदर्शन।

प्राकृत काव्य और गीति की भाषा महाराष्ट्री कही जाती है। सेतुबन्ध, गाथासप्तशती, गउडवहो, कुमारपालचरित प्रभृति ग्रन्थों में इस भाषा के निदर्शन पाये जाते हैं। गाथा (गीति-साहित्य) में महाराष्ट्री प्राकृत ने इतनी प्रसिद्धि प्राप्त की थी कि बाद में नाटकों में गद्य में सौरसेनी बोलनेवाले पात्रों के लिए संगीत या पद्य में महाराष्ट्री भाषा का व्यवहार करने का रिवाज सा बन गया था। यही कारण है कि कालिदास से ले कर उसके बाद के सभी नाटकों में पद्य में प्रायः महाराष्ट्री भाषा का ही व्यवहार देखा जाता है।

चंड ने अपने प्राकृतलक्षण में 'महाराष्ट्री' इस नाम का उल्लेख और इसके विशेष लक्षण न दे कर भी आर्ष-प्राकृत अथवा अर्धमागधी के और जैन महाराष्ट्री के लक्षणों के साथ साधारण भाव से इसके लक्षण दिये हैं। वररुचि ने अपने प्राकृत-व्याकरण में इस भाषा के '* महाराष्ट्री' नाम का उल्लेख किया है और इसके विशेष लक्षण और उदाहरण दिये हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में 'महाराष्ट्री' नाम का निर्देश न कर 'प्राकृत' इस साधारण नाम से महाराष्ट्री के ही लक्षण और उदाहरण बताये हैं। क्रमदीश्वर का संक्षिप्तसार, त्रिविक्रम की प्राकृतव्याकरणसूत्रवृत्ति, लक्ष्मीधर की षड्भाषाचन्द्रिका और मार्कण्डेय का प्राकृतसर्वस्व प्रभृति प्राकृत-व्याकरणों में इस भाषा के लक्षण और उदाहरण पाये जाते हैं। चंड-भिन्न सभी प्राकृत वैयाकरणों ने महाराष्ट्री का मुख्य रूप से विवरण दिया है और सौरसेनी, मागधी प्रभृति भाषाओं के महाराष्ट्री के साथ जो भेद हैं वे ही बतलाये हैं।

संस्कृत के अलंकार-शास्त्रों में भी भिन्न भिन्न प्राकृत भाषाओं का उल्लेख मिलता है। भरत के नाट्य-शास्त्र में 'दाक्षिणात्या' भाषा का निर्देश है, किन्तु इसके विशेष लक्षण नहीं दिये गये हैं। संभवतः वह महाराष्ट्री भाषा ही हो सकती है, क्योंकि भरत ने महाराष्ट्री का अलग उल्लेख नहीं किया है। परन्तु मार्कण्डेय के प्राकृतसर्वस्व में उद्धृत प्राकृतचन्द्रिका के + वचन में और प्राकृतसर्वस्व के खुद मार्कण्डेय के § वचन में महाराष्ट्री और दाक्षिणात्या का भिन्न भिन्न भाषा के रूप में उल्लेख किया गया है। दण्डी के काव्यादर्श के

'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम् ॥" (१, ३४)।

इस श्लोक में महाराष्ट्री भाषा का और उसकी उत्कृष्टता का स्पष्ट उल्लेख है। दण्डी के समय में महाराष्ट्री प्राकृत का इतना उत्कर्ष हुआ था कि इसके परवर्ती अनेक ग्रन्थकारों ने केवल इस महारष्ट्री के ही अर्थ में उस प्राकृत शब्द का प्रयोग किया है जो सामान्यतः सर्व प्रादेशिक भाषाओं का वाचक है। रुद्रट का काव्यालंकार, वाग्भटालंकार, पाइअलच्छीनाममाला, हेमचन्द्र का प्राकृत-व्याकरण प्रभृति ग्रन्थो में महाराष्ट्री के ही अर्थ में प्राकृत शब्द व्यवहृत हुआ है। अलंकार-शास्त्र-भिन्न पाइअलच्छीनाममाला और देशीनाममाला इन कोष-ग्रन्थों में भी महाराष्ट्री के उदाहरण हैं।

उत्पत्ति-स्थान।

डो. होर्नलि के मत में महाराष्ट्री भाषा महाराष्ट्र देश में उत्पन्न नहीं हुई है। वे मानते हैं कि महाराष्ट्री का अर्थ 'विशाल राष्ट्र की भाषा' है और राजपूताना तथा मध्यदेश प्रभृति इसी विशाल राष्ट्र के अन्तर्गत हैं, इसीसे 'महाराष्ट्री' मुख्य प्राकृत कही गई है। किन्तु दण्डी ने इस भाषा को महाराष्ट्र देश की ही भाषा कही है। सर ग्रियर्सन के मत में

---

* "शेषं महाराष्ट्रीवत्" (प्राकृतप्रकाश १२, ३२)।

\+ "महाराष्ट्री तथावन्ती सौरसेन्यर्धमागधी। वाह्लीकी मागधी प्राच्येत्यष्टौ ता दाक्षिणात्यया ॥" (प्रा०स० पृष्ठ २)।

§ देखो प्राकृतसर्वस्व, पृष्ठ २ और १०४।

महाराष्ट्री प्राकृत से ही आधुनिक मराठी भाषा उत्पन्न हुई है। इससे महाराष्ट्री प्राकृत का उत्पत्ति-स्थान महाराष्ट्र देश ही है यह बात निःसन्देह कही जा सकती है।

प्रकृति।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में महाराष्ट्री को ही 'प्राकृत' नाम दिया है और इसकी प्रकृति संस्कृत कही है। इसी तरह चण्ड, लक्ष्मीधर, मार्कण्डेय आदि वैयाकरणों ने साधारण रूप से सभी प्राकृत भाषाओं का मूल (प्रकृति) संस्कृत बताया है। किन्तु हम यह पहले ही अच्छी तरह प्रमाणित कर आये हैं कि कोई भी प्राकृत भाषा संस्कृत से उत्पन्न नहीं हुई है, बल्कि वैदिक काल में भिन्न भिन्न प्रदेशों में प्रचलित आर्यों की कथ्य भाषाओं से ही सभी प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति हुई है, सुतरां महाराष्ट्री भाषा की उत्पत्ति प्राचीन काल के महाराष्ट्र-निवासी आर्यों की कथ्य भाषा से हुई है।

समय।

कौन समय आर्यों ने महाराष्ट्र में सर्व-प्रथम निवास किया था, इस बात का निर्णय करना कठिन है, परन्तु अशोक के पहले प्राकृत भाषा महाराष्ट्र देश में प्रचलित थी, इस विषय में किसीका मत-भेद नहीं है। उस समय महाराष्ट्र देश में प्रचलित प्राकृत से क्रमशः काव्यीय और नाटकीय महाराष्ट्री भाषा उत्पन्न हुई है। प्राकृतप्रकाश का कर्ता वररुचि यदि वृत्तिकार कात्यायन से अभिन्न व्यक्ति हो तो यह स्वीकार करना होगा कि महाराष्ट्री ने अन्ततः खिस्त-पूर्व दो सौ वर्ष के पहले ही साहित्य में स्थान पाया था। लेकिन महाराष्ट्री भाषा के तद्भव शब्दों में व्यञ्जन वर्णों के लोप की बहुलता देखने से यह विश्वास नहीं होता कि यह भाषा उतनी प्राचीन है। वररुचि का व्याकरण संभवतः खिस्त के बाद ही रचा गया है। जैन अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री में महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव का हमने पहले उल्लेख किया है। महाराष्ट्री भाषा में रचित जो सब साहित्य इस समय पाया जाता है उसमें खिस्त के बाद की महाराष्ट्री के ही निदर्शन देखे जाते हैं। प्राचीन महाराष्ट्री का कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है। प्राचीन महाराष्ट्री में बाद की महाराष्ट्री की तरह व्यञ्जन-वर्ण-लोप की अधिकता नहीं थी, इस बात के कुछ निदर्शन चण्ड के व्याकरण में मिलते हैं। जैन अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री में प्राचीन महाराष्ट्री भाषा का सादृश्य रक्षित है।

आवन्ती और वाह्लीकी महाराष्ट्री के अन्तर्गत है।

भरत ने नाट्यशास्त्र में आवन्ती और वाह्लीकी भाषा का उल्लेख कर नाटकों में धूर्त पात्रों के लिए आवन्ती का और द्यूतकारों के लिए वाह्लीकी का प्रयोग कहा है। मार्कण्डेय ने अपने प्राकृतसर्वस्व में "आवन्ती स्यान्महाराष्ट्रीशौरसेन्योस्तु संकरात्" और "आवन्त्यामेव वाह्लीकी किन्तु रस्यात्र लो भवेत्" यह कह कर इनका संक्षिप्त लक्षण-निर्देश किया है। मार्कण्डेय ने आवन्ती भाषा के जो त्वा के स्थान में तूण और भविष्यत्काल के प्रत्यय के स्थान में ज्ज और ज्जा प्रभृति लक्षण बतलाये हैं वे महाराष्ट्री के साथ साधारण हैं। उनके दिये हुए किराद, वेदस, पेच्छदि प्रभृति उदाहरणों में जो तकार के स्थान में दकार है वहाँ शौरसेनी के साथ इसका (आवन्ती का) सादृश्य है परन्तु वह भी सर्वत्र नहीं है, जैसे उन्होंके दिये हुए होइ, सुव्वइ, लिज्जइ, भण्णाए आदि उदाहरणों में। इसी तरह वाह्लीकी में जो र का ल होता है वही एकमात्र मागधी का सादृश्य है। इसके सिवा सभी अंशों में यह भी आवन्ती की तरह महाराष्ट्री के ही सदृश है। सुतरां, ये दोनों भाषायें महाराष्ट्री के ही अन्तर्गत कही जा सकती हैं। इससे हमने भी इनका इस कोष में अलग निर्देश नहीं किया है।

लक्षण।

संस्कृत भाषा के साथ महाराष्ट्री भाषा के वे भेद नीचे दिये जाते हैं जो महाराष्ट्री और संस्कृत के साथ अन्य प्राकृत भाषाओं के सादृश्य और पार्थक्य की तुलना के लिए भी अधिक उपयुक्त हैं।

स्वर।

१। **अनेक जगह भिन्न स्वरों के स्थान में भिन्न भिन्न स्वर होते हैं; जैसे**—समृद्धि=सामिद्धि, ईषत्=ईसि, हर=हीर, ध्वनि=झुणि, शय्या=सेज्जा, पद्म=पोम्म; यथा=जह, सदा=सइ, स्त्यान=थीण, स्नान्=सुण्हा, आसार=ऊसार, ग्राह्य=गेज्झ, आली=ओली; इति=इअ, पथिन्=पह, जिह्वा=जीहा, द्विवचन=दुवअण, पिण्ड=पिंड, द्विधाकृत=दोहाइअ; हरीतकी=हरडई, कश्मीर=कम्हार, पानीय=पाणिअ, जीर्ण=जुण्ण, हीन=हूण, पीयूष=पेऊस; मुकुल=मउल, भ्रुकुटि=भिउडि, च्युत=छीअ, मुसल=मूसल, तुण्ड=तोंड; सूक्ष्म=सण्ह, उद्व्यूढ=उव्वीढ, वातूल=वाउल, नूपुर=णेउर, तूणीर=तोणीर; वेदना=विअणा, स्तेन=थेण; मनोहर=मणाहर, गो=गउ, गाअ; सोच्छ्वास=सूसास।

२। **महाराष्ट्री में ऋ, ॠ, ऌ, ॡ ये स्वर सर्वथा लुप्त हो गये हैं।**

३। **ऋ के स्थान में भिन्न भिन्न स्वर एवं रि होता है, यथा**—तृण=तण, मृदुक=माउक्क, कृपा=किवा, मातृ=माइ, माउ; वृत्तान्त=वुत्तंत, मृषा=मुसा, मूसा, मोसा; वृन्त=विंट, वेंट, वोंट; ऋतु=उउ, रिउ; ऋद्धि=रिद्धि, ऋक्ष=रिच्छ; सदृश=सरिस, दृप्त=दरिअ।

४। **ऌ के स्थान में इलि होता है, जैसे**—क्लृप्त=किलित्त, क्लृन्न=किलिण्ण।

५। **ऐ का प्रयोग भी * प्रायः महाराष्ट्री में नहीं है। उसके स्थान में सामान्यतः ए और विशेषतः अइ होता है, यथा**—शैल=सेल, ऐरावण=एरावण, वैद्य=वेज्ज, वैधव्य=वेहव्व; सैन्य=सेण्ण, सइण्ण; कैलाश=केलास, कइलास; दैव=देव्व, दइव; ऐश्वर्य=अइसरिअ, दैन्य=दइण्ण।

६। **औ का व्यवहार भी * प्रायः महाराष्ट्री में नहीं है। उसके स्थान में सामान्यतः ओ और विशेष स्थलों में उ या अउ होता है; यथा**—कौमुदी=कोमुई, यौवन=जोव्वण, दौवारिक=दुवारिअ, पौलोमी=पुलोमी; कौरव=कउरव, गौड=गउड, सौध=सउह।

असंयुक्त व्यञ्जन।

१। **स्वरों के मध्यवर्ती** क, ग, च, ज, त, द, य, व **इन व्यञ्जनों का प्रायः लोप होता है; जैसे क्रमशः**—लोक=लोअ, नग=णअ, शची=सई, रजत=रअअ, यती=जई, गदा=गआ, वियोग=विओअ, लावण्य=लाअण्ण।

२। **स्वरों के बीच के** ख, घ, थ, ध **और** भ **के स्थान में** ह **होता है, यथा क्रमशः**—शाखा=साहा, श्लाघते=लाहइ, नाथ=णाह, साधु=साहु, सभा=सहा।

३। **स्वरों के बीच के** ट **का** ड **होता है, यथा**—भट=भड, घट=घड।

४। **स्वरों के बीच के** ठ **का** ढ **होता है, जैसे**—मठ=मढ, पठति=पढइ।

५। **स्वरों के बीच के** ड **का** ल **प्रायः होता है, यथा**—गरुड=गरुल, तडाग=तलाअ।

६। **स्वरों के बीच के** त **का अनेक स्थल में** ड **होता है, यथा**—प्रतिभास=पडिहास, प्रभृति=पहुडि, व्यापृत=वावड, पताका=पडाआ।

७। **न के स्थान में सर्वत्र** ण **होता है यथा**—कनक=कणअ, वचन=वअण, नर=णर, नदी=णई, अन्य=अण्ण, दैन्य=दइण्ण †।

---

* संस्कृत के 'अयि' शब्द का महाराष्ट्री में 'ऐ' होता है। इसके सिवा किसी किसी के मत में 'ऐ' तथा 'औ' का भी प्रयोग होता है, जैसे—कैतव=कैअव, कौरव=कौरव; (हे० प्रा० १, १)।

† वररुचि के प्राकृत-व्याकरण के "नो णः सर्वत्र" (२, ४२) सूत्र के अनुसार सर्वत्र 'न' का 'ण' होता है। सेतुबन्ध और गाथासप्तशती में इसी तरह सार्वत्रिक 'ण' पाया जाता है। हेमचन्द्र आदि कई प्राकृत वैयाकरणों के मत से शब्द की आदि के 'न' का विकल्प से 'ण' होता है, यथा—नदी=णई, नई; नर=णर, नर। गउडवहो में णकार का वैकल्पिक प्रयोग देखा जाता है।

८। दों स्वरों के मध्यवर्ती प का कहीं कहीं व और कहीं कहीं लोप होता है, यथा—शपथ=सवह, शाप=साव,उपसर्ग=उवसग्ग, रिपु=रिउ, कपि=कइ।

९। स्वरों के बीच के फ के स्थान में कहीं कहीं भ, कहीं कहीं ह और कहीं कहीं ये दोनों होते हैं; यथा—रेफ=रेभ, शिफा=सिभा, मुक्ताफल=मुत्ताहल, सफल=सभल, सहल, शेफालिका=सेभालिआ, सेहालिआ।

१०। स्वरों के मध्यवर्ती ब का व होता है, जैसे—अलाबू=अलावू, शबल=सवल।

११। आदि के य का ज होता है, यथा—यम=जम, यशस्=जस, याति=जाइ।

१२। कृदन्त के अनीय और य प्रत्यय के य का ज होता है, जैसे—करणीय=करणिज, पेय=पेज।

१३। अनेक जगह र का ल होता है, यथा—हरिद्रा=हलिद्दा, दरिद्र=दलिद्द, युधिष्ठिर=जहुट्ठिल, अङ्गार=इंगाल।

१४। श और ष का सर्वत्र स होता है, यथा—शब्द=सद्द, विश्राम=वीसाम, पुरुष=पुरिस, सस्य=सास, शेष=सेस।

१५। अनेक जगह ह का घ होता है, यथा—दाह=दाघ, सिंह=सिंघ, संहार=संघार।

१६। कहीं कहीं श, ष और स का छ होता है; जैसे—शाव=छाव, षष्ठ=छट्ठ, सुधा=छुहा।

१७। अनेक शब्दों में स्वर-सहित व्यञ्जन का लोप होता है, यथा—राजकुल=राउल, आगत=आअ, कालायस=कालास, हृदय=हिअ, पादपतन=पावडण, यावत्=जा, त्रयोदश=तेरह, स्थविर=थेर, बदर=बोर, कदल=केल, कर्णिकार=कण्णोर, चतुर्दश=चोद्दह, मयूख=मोह।

संयुक्त व्यञ्जन।

१। क्ष के स्थान में प्रायः ख और कहीं कहीं छ और झ होता है; जैसे—क्षय=खय, लक्षण=लक्खण, अक्षि=अच्छि, क्षीण=छीण, झीण।

२। त्व, थ्व, द्व और ध्व के स्थान में कहीं कहीं क्रमशः च, छ, ज और झ होता है, यथा—ज्ञात्वा=णाचा, पृथ्वी=पिच्छी, विद्वान=विज्जं, बुद्ध्वा=बुज्झा।

३। ह्रस्व स्वर के परवर्ती थ्य, श्च, त्स और प्स के स्थान में छ होता है; जैसे—पथ्य=पच्छ, पश्चात्=पच्छा, उत्साह=उच्छाह, अप्सरा=अच्छरा।

४। द्य, ध्य और र्य का ज होता है, यथा—मद्य=मज, जघ्य=जज, कार्य=कज।

५। ध्य और ह्य का झ होता है, यथा—ध्यान=झाण, साध्य=सज्झ, गुह्य=गुज्झ, सह्य=सज्झ।

६। र्त का प्रायः ट होता है, जैसे—नर्तकी=णट्टई, कैवर्त=केवट्ट।

७। ष्ट के स्थान में ठ होता है, यथा—मुष्टि=मुट्ठि, पुष्ट=पुट्ठ, काष्ठ=कट्ठ, इष्ट=इट्ठ।

८। म्न का ण होता है, यथा—निम्न=णिअण, प्रद्युम्न=पज्जुण्ण।

९। ज्ञ का ण और ज होता है, जैसे—ज्ञान=णाण, जाण; प्रज्ञा=पण्णा, पज्जा।

१०। स्त का थ होता है, जैसे—हस्त=हत्थ, स्तोत्र=थोत्त, स्तोक=थोव।

११। ड्म और क्म का प होता है, यथा—कुड्मल=कुंपल, रुक्मिणी=रुप्पिणी।

१२। ष्प और स्प का फ होता है, यथा—पुष्प=पुप्फ, स्पन्दन=फंदण।

१३। ह्व का भ होता है, यथा—जिह्वा=जिब्भा, विह्वल=विब्भल।

१४। न्म और ग्म का म होता है, जैसे—जन्मन्=जम्म, मन्मथ=वम्मह, युग्म=जुम्म, तिग्म=तिम्म।

१५। श्म, ष्म, स्म और ह्म का म्ह होता है, यथा—कश्मीर=कम्हार, ग्रीष्म=गिम्ह, विस्मय=विम्हअ, ब्राह्मण=बम्हण।

१६। श्न, ष्ण, स्न, ह्न और ह्ण के स्थान में ण्ह होता है, यथा—प्रश्न=पण्ह, उष्ण=उण्ह, स्नान=ण्हाण, वह्नि=वण्हि, पूर्वाह्न=पुव्वण्ह, तीक्ष्ण=तिण्ह।

१७। ह्न का ल्ह होता है, यथा—प्रह्लाद=पल्हाअ, कह्लार=कल्हार।

१८। संयोग में पूर्ववर्ती क, ग, ट, ड, त, द, प, श, ष और स का लोप होता है, जैसे—भुक्त=भुत्त, मुग्ध=मुद्ध, षट्पद=छप्पअ, खड्ग=खग्ग, उत्पल=उप्पल, मुद्गर=मुग्गर, सुप्त=सुत्त, निश्चल=णिच्चल, निष्ठुर=णिट्ठुर, स्खलित=खलिअ।

१९। संयोग में परवर्ती म, न और य का लोप होता है,यथा—स्मर=सर, लग्न=लग्ग, व्याध=वाह।

२०। संयोग में पूर्ववर्ती और परवर्ती सभी ल, व और र का लोप होता है, यथा—उल्का=उक्का, विक्लव=विक्कव, शब्द=सद्द, पक्व=पक्क, अर्क=अक्क, चक्र=चक्क।

२१। संयुक्त अक्षरों के स्थान में जो जो आदेश ऊपर कहा है उसका और संयुक्त व्यञ्जन के लोप होने पर जो जो व्यञ्जन बाकी रहता है उसका, यदि वह शब्द की आदि में न हो तो, द्वित्व होता है, जैसे—ज्ञात्वा=णच्चा, मज्ज=मज्ज, भुक्त=भुत्त, उल्का=उक्का। परन्तु वह आदेश अथवा शेष व्यञ्जन यदि वर्ग का द्वितीय अथवा चतुर्थ अक्षर हो तो द्वित्व न हो कर उसके पूर्व में आदेश अथवा शेष व्यञ्जन के अनन्तर-पूर्व व्यञ्जन का आगम होता है; यथा—लक्ष्मण=लक्खण, पश्चात्=पच्छा, इष्ट=इट्ठ, मुग्ध=मुद्ध।

विश्लेषण।

१। ह्र, र्श, र्ष के मध्य में और संयोग में परवर्ती ल के पूर्व में स्वर का आगम हो कर संयुक्त व्यञ्जनों का विश्लेषण किया जाता है, यथा—अर्हत्=अरह, अरिह, अरुह; आदर्श=आयरिस, हर्ष=हरिस, क्लिष्ट=किलिट्ठ।

व्यत्यय।

१। अनेक शब्दों में व्यञ्जन के स्थान का व्यत्यय होता है, यथा—करेणू=कणेरू, आलान=आणाल, महाराष्ट्र=मरहट्ठ, हरिताल=हलिआर, लघुक=हलुअ, ललाट=णडाल, गुह्य=गुय्ह, सह्य=सय्ह।

सन्धि।

१। समास में कहीं कहीं ह्रस्व स्वर के स्थान में दीर्घ और दीर्घ के स्थान में ह्रस्व होता है; यथा—अन्तर्वेदि=अन्तावेइ, पतिगृह=पइहर, यमुनातट=जँउणाअड, नदीस्रोतः=णइसोत्त।

२। स्वर पर रहने पर पूर्व स्वर का लोप होता है, जैसे—त्रिदशेशः=तिअसीस।

३। संयुक्त व्यञ्जन का पूर्व स्वर ह्रस्व होता है, जैसे—आस्य=अस्स, मुनीन्द्र=मुणिंद, चूर्ण=चुण्ण, नरेन्द्र=णरिंद, म्लेच्छ=मिलिच्छ, नीलोत्पल=णीलुप्पल।

सन्धि-निषेध।

१। उद्वृत (व्यञ्जन का लोप होने पर अवशिष्ट रहे हुए) स्वर की पूर्व स्वर के साथ प्रायः सन्धि नहीं होती है, यथा—निशाकर=णिसाअर, रजनीकर=रअणीअर।

२। एक पद में स्वरों की सन्धि नहीं होती है, जैसे—पाद=पाअ, गति=गइ, नगर=णअर।

३। इ, ई, उ और ऊ की, असमान स्वर पर रहने पर, सन्धि नहीं होती है, यथा—वग्गेवि अवयासो, दणुइंदो।

४। ए और ओ की परवर्ती स्वर के साथ सन्धि नहीं होती है, यथा—फले आबंधो, आलक्खिमा एत्थिह।

५। आख्यात के स्वर की सन्धि नहीं होती है, जैसे—होइ इह।

नाम-विभक्ति।

१। अकारान्त पुंलिंग शब्द के एकवचन में ओ होता है, जैसे—जिनः=जिणो, वृक्षः=वच्छो।

२। पञ्चमी के एकवचन में त्तो, ओ, उ, हि और लोप होता है और त्तो-भिन्न अन्य प्रत्ययों के प्रसंग में अकार का आकार होता है जैसे—जिनात्=जिणात्तो, जिणाओ, जिणाउ, जिणाहि, जिणा।

३। पञ्चमी के बहुवचन का प्रत्यय त्तो, ओ, उ और हि होता है, एवं त्तो से अन्य प्रत्यय में पूर्व के अ का आ होता है, हि के प्रसंग में ए भी होता है, यथा—जिणात्तो, जिणाओ, जिणाउ, जिणाहि, जिणेहि।

४। पञ्चमी के एकवचन के प्रत्यय के स्थान में हिंतो और बहुवचन के प्रत्यय के स्थान में हिंतो और सुंतो इन स्वतन्त्र शब्दों का भी प्रयोग होता है, यथा—जिनात्=जिणा हिंतो; जिनेभ्यः=जिणा हिन्तो, जिणे हिन्तो, जिणा सुंतो, जिणे सुंतो।

५। षष्ठी के एकवचन का प्रत्यय स्स होता है, यथा—जिणस्स, मुणिस्स, तरुस्स।

६। अस्मत् शब्द के प्रथमा के एकवचन के रूप म्मि, अम्मि, अम्हि, हं, अहं और अहयं होता है।

७। अस्मत् शब्द के प्रथमा के बहुवचन के रूप अम्ह, अम्हे, अम्हो, मो, वयं और मे होता है।

८। अस्मत् शब्द के षष्ठी का बहुवचन णे, णो, मज्झ, अम्ह, अम्हं, अम्हे, अम्हो, अम्हाण, ममाण, महाण और मज्झाण होता है।

९। युष्मत् शब्द के षष्ठी का एकवचन तइ, तु, ते, तुम्हं, तुह, तुहं, तुव, तुम, तुमे, तुमो, तुमाइ, दि, दे, इ, ए, तुब्भ, तुम्ह, तुज्झ, उब्भ, उम्ह, उज्झ और उय्ह होता है।

लिङ्ग-व्यत्यय।

१। संस्कृत में जो शब्द केवल पुंलिंग है, उनमें से कईएक महाराष्ट्री में स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग भी है, यथा—प्रश्नः=पण्हो, पण्हा; गुणाः=गुणा, गुणाइं; देवाः=देवा, देवाणि।

२। अनेक जगह स्त्रीलिंग के स्थान में पुंलिंग होता है, यथा—शरत्=सरओ, प्रावृट्=पाउसो, विद्युता=विज्जुणा।

३। संस्कृत के अनेक क्लीबलिंग शब्दों का प्रयोग महाराष्ट्री में पुंलिंग और स्त्रीलिंग में भी होता है, यथा—यशः=जसो, जन्म=जम्मो, अक्षि=अच्छी, पृष्ठम्=पिट्ठो, चौर्यम्=चोरिआ।

आख्यात।

१। ति और ते प्रत्ययों के त का लोप होता है, जैसे—हसति=हसइ, हसए; रमते=रमइ, रमए।

२। परस्मैपद और आत्मनेपद का विभाग नहीं है, महाराष्ट्री में सभी धातु उभयपदी की तरह हैं।

३। भूतकाल के ह्यस्तन, अद्यतन और परोक्ष विभाग न होकर एक ही तरह के रूप होते हैं। और भूतकाल में आख्यात की जगह त-प्रत्ययान्त कृदन्त का ही प्रयोग अधिक होता है।

४। भविष्यत्-काल के भी संस्कृत की तरह श्वस्तन और भविष्यत् ऐसे दो विभाग नहीं हैं।

५। भविष्यत्काल के प्रत्ययों के पहले हि होता है, यथा—हसिष्यति=हसिहिइ, करिष्यति=करिहिइ।

६। वर्तमान काल के, भविष्यत्काल के और विधि-लिंग और आज्ञार्थक प्रत्ययों के स्थान में ज और जा होता है, यथा—हसति, हसिष्यति, हसेत्, हसतु=हसेज, हसेजा।

७। भाव और कर्म में ईअ और इज प्रत्यय होते हैं, यथा—हस्यते=हसीअइ, हसिजइ।

कृदन्त।

१। शीलाद्यर्थक तृ-प्रत्यय के स्थान में इर होता है, यथा—गन्तृ=गमिर, नमनशील=णमिर।

२। त्वा-प्रत्यय के स्थान में तुम्, अ, तूण, तुआण और त्ता होता है, जैसे—पठित्वा=पढिउं पढिअ, पढिऊण, पढिउआण, पढित्ता।

तद्धित।

१। त्व-प्रत्यय के स्थान में त्त और त्तण होता है, यथा—देवत्व=देवत्त, देवत्तण।

(१०) अपभ्रंश ।

'अपभ्रंश' शब्द का सामान्य और विशेष अर्थ ।

महर्षि पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में लिखा है कि "भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दाः । एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः, तद्यथा—गौरित्यस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्येवमादयोऽपभ्रंशाः" **अर्थात् अपशब्द बहुत और शब्द (शुद्ध) थोड़े हैं, क्योंकि एक एक शब्द के बहुत अपभ्रंश हैं, जैसे 'गौः' इस शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अपभ्रंश हैं। यहाँ पर 'अपभ्रंश' शब्द अपशब्द के अर्थ में ही व्यवहृत है और अपशब्द का अर्थ भी 'संस्कृत-व्याकरण से असिद्ध शब्द' है, यह स्पष्ट है। उक्त उदाहरणों में 'गावी' और 'गोणी' ये दो शब्दों का प्रयोग प्राचीन * जैन-सूत्र-ग्रन्थों में पाया जाता है और † चंड तथा ‡ आचार्य हेमचन्द्र आदि प्राकृत-वैयाकरणों ने भी ये दो शब्द अपने अपने प्राकृत-व्याकरणों में लक्षण-द्वारा सिद्ध किये हैं। दण्डी ने अपने काव्यादर्श में पहले प्राकृत और अपभ्रंश का अलग अलग निर्देश करते हुए काव्य में व्यवहृत आभीर-प्रभृति की भाषा को अपभ्रंश कही है और बाद में यह लिखा है कि 'शास्त्र में संस्कृत-भिन्न सभी भाषायें अपभ्रंश कही गई हैं' §। यहाँ पर दण्डी ने शास्त्र-शब्द का प्रयोग महाभाष्य-प्रभृति व्याकरण के अर्थ में ही किया है। पतञ्जलि-प्रभृति संस्कृत-वैयाकरणों के मत में संस्कृत-भिन्न सभी प्राकृत-भाषायें अपभ्रंश के अन्तर्गत हैं, यह ऊपर के उनके लेख से स्पष्ट है। परन्तु प्राकृत-वैयाकरणों के मत में अपभ्रंश भाषा प्राकृत का ही एक अवान्तर भेद है। काव्यालंकार की टीका में नमिसाधु ने लिखा है कि "प्राकृतमेवापभ्रंशः" (२, १२) अर्थात् अपभ्रंश भी शौरसेनी, मागधी आदि की तरह एक प्रकार का प्राकृत ही है। उक्त क्रमिक उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि पतञ्जलि के समय में जिस अपभ्रंश शब्द का 'संस्कृत-व्याकरण-असिद्ध (कोई भी प्राकृत)' इस सामान्य अर्थ में प्रयोग होता था उसने आगे जा कर क्रमशः 'प्राकृत का एक भेद' इस विशेष अर्थ को धारण किया है। हमने भी यहाँ पर अपभ्रंश शब्द का इस विशेष अर्थ में ही व्यवहार किया है।**

निदर्शन ।

अपभ्रंश भाषा के निदर्शन विक्रमोर्वशी, धर्माभ्युदय आदि **नाटक-ग्रन्थों में**, हरिवंशपुराण, पउमचरिअ (**स्वयंभूदेवकृत**), भविसयत्तकहा, संजममंजरी, महापुराण, यशोधरचरित, नागकुमारचरित, कथाकोश, पार्श्वपुराण, सुदंसनचरित, करकंडुचरित, जयतिहुअणस्तोत्र, विलासवईकहा, सणंकुमारचरिअ, सुपासनाहचरिअ, कुमारपालचरित, कुमारपालप्रतिबोध, उपदेशतरंगिणी **प्रभृति काव्य-ग्रन्थों में**, प्राकृतलक्षण, सिद्धहेमचन्द्रव्याकरण (अष्टम अध्याय), संक्षिप्तसार, षड्भाषाचन्द्रिका, प्राकृतसर्वस्व **वगैरः व्याकरणों में और** प्राकृतपिङ्गल-**नामक छन्द-ग्रन्थ में पाये जाते हैं।**

प्रकृति और समय ।

डो. होर्नलि के मत में जिस तरह आर्य लोगों की कथ्य भाषायें अनार्य लोगों के मुख से उच्चारित होने के कारण जिस विकृत रूप को धारण कर पायी थीं वह पैशाची भाषा है और वह कोई भी प्रादेशिक भाषा नहीं है, उस तरह आर्यों की कथ्य भाषायें भारत के आदिम-निवासी अनार्य लोगों की भिन्न भिन्न भाषाओं के प्रभाव से जिन रूपान्तरों को प्राप्त हुई थीं वे ही भिन्न भिन्न अपभ्रंश भाषायें हैं और ये महाराष्ट्री की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं। डो. होर्नलि

---

* "खोरीणियाओ गावीओ", "गोणं वियालं" (आचा २, ४, ५)।
"णागरगावीओ" (विपा १, २—पत्र २६)।
"गोणीणं सगेल्लं" (व्यवहारसूत्र, उ० ४)।

† "गोर्गावी" (प्राकृतलक्षण २, १६)। ‡ "गोणादयः" (हे० प्रा० २, १७४)।

§ "आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः।
शास्त्रे तु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम" (१, ३६)।

के इस मत का सर ग्रियर्सन-प्रभृति आधुनिक भाषातत्त्वज्ञ स्वीकार नहीं करते हैं। सर ग्रियर्सन के मत में भिन्न भिन्न प्राकृत भाषायें साहित्य और व्याकरण में नियन्त्रित होकर जन-साधारण में अप्रचलित होने के कारण जिन नूतन कथ्य भाषाओं की उत्पत्ति हुई थी वे ही अपभ्रंश हैं। ये अपभ्रंश-भाषायें ख्रिस्तीय पञ्चम शताब्दी के बहुत काल पूर्व से ही कथ्य भाषाओं के रूप में व्यवहृत होती थीं, क्योंकि चण्ड के प्राकृत-व्याकरण में और कालिदास की विक्रमोर्वशी में इसके निदर्शन पाये जाने के कारण यह निश्चित है कि ख्रिस्तीय पञ्चम शताब्दी के पहले से ही ये साहित्य में स्थान पाने लगी थीं। ये अपभ्रंश-भाषायें प्रायः दशम शताब्दी पर्यन्त साहित्य की भाषायें थीं। इसके बाद फिर जन-साधारण में अप्रचलित होने से जिन नूतन कथ्य भाषाओं की उत्पत्ति हुई वे ही हिन्दी, बंगला, गूजराती वगैरेः आधुनिक आर्य कथ्य भाषायें हैं। इनका उत्पत्ति-समय ख्रिस्त की नववीं या दशवीं शताब्दी है। सुतरां, अपभ्रंश-भाषायें ख्रिस्त की पञ्चम शताब्दी के पूर्व से ले कर नववीं या दशवीं शताब्दी पर्यन्त साहित्य की भाषाओं के रूप में प्रचलित थीं। इन अपभ्रंश-भाषाओं की प्रकृति वे विभिन्न प्राकृत-भाषायें हैं जो भारत के विभिन्न प्रदेशों में इन अपभ्रंशों की उत्पत्ति के पूर्वकाल में प्रचलित थीं।

भेद। अपभ्रंश के बहुत भेद हैं, प्राकृतचन्द्रिका में इसके ये सताईस भेद बताये गये हैं :—

"व्राचडो लाटवैदर्भावुपनागरनागरौ। बार्बरावन्त्यपाञ्चालटाक्कमालवकैकयाः॥
गौडोढ्रैवपाश्चात्यपाण्ड्यकौन्तलसैंहलाः। कालिङ्गयप्राच्यकार्णाटकाञ्च्यद्राविडगौर्जराः॥
आभीरो मध्यदेशीयः सूक्ष्मभेदव्यस्थिताः। सप्तविंशत्यपभ्रंशा वैतालादिप्रभेदतः * ॥

मार्कण्डेय ने अपने प्राकृतसर्वस्व में प्राकृतचन्द्रिका से सताईस अपभ्रंशों के जो लक्षण और उदाहरण उद्धृत किये हैं ‡ वे इतने अपर्याप्त और अस्पष्ट हैं कि खुद मार्कंडेय ने भी इनको सूक्ष्म कह कर नगण्य बताये हैं और इनका पृथग् पृथग् लक्षण-निर्देश न कर उक्त समस्त अपभ्रंशों का नागर, व्राचड और उपनागर इन तीन प्रधान भेदों में ही अन्तर्भाव माना है §। परन्तु यह बात मानने योग्य नहीं है, क्योंकि जब यह सिद्ध है कि जिन भाषाओं का उत्पत्ति-स्थान भिन्न भिन्न प्रदेश है और जिनकी प्रकृति भी भिन्न भिन्न प्रदेश की भिन्न भिन्न प्राकृत भाषायें हैं तब वे अपभ्रंश भाषायें भी भिन्न भिन्न ही हो सकती हैं और उन सब का समावेश एक दूसरे में नहीं किया जा सकता। वास्तव में बात यह है कि वे सभी अपभ्रंश भिन्न भिन्न होने पर भी साहित्य में निबद्ध न होने के कारण उन सब के निदर्शन ही उपलब्ध नहीं हो सकते थे। इसीसे प्राकृतचन्द्रिकाकार न उनके स्पष्ट लक्षण ही कर पाये हैं और न तो उदाहरण ही अधिक दे सके हैं। यही कारण है कि मार्कण्डेय ने भी इन भेदों को सूक्ष्म कहकर टाल दिये हैं। जिन अपभ्रंश भाषाओं के साहित्य-निबद्ध होने से निदर्शन पाये जाते हैं उनके लक्षण और उदाहरण आचार्य हेमचन्द्र ने केवल अपभ्रंश के सामान्य नाम से और मार्कण्डेय ने अपभ्रंश के तीन विशेष नामों से दिये हैं। आचार्य

---

* बङ्गीयसाहित्यपरिषत्-पत्रिका, १३१७।

‡ "टाक्कं टक्कभाषानागरोपनागरादिभ्योऽवधारणीयम्। तुबहुला मालवी। वाडीबहुला पाञ्चाली। उल्लप्राया वैदर्भी। संबोधनाढ्या लाटी। ईकारोकारबहुला ओढ्री। सवीप्सा कैकेयी। समासाढ्या गौडी। डकारबहुला कौन्तली। एकारिणी च पाण्ड्या। युक्ताढ्या सैंहली। हियुक्ता कालिङ्गी। प्राच्या तद्देशीयभाषाढ्या। ज(भ)ट्टादिबहुलाऽऽभीरी। वर्णविपर्ययात् कार्णाटी। मध्यदेशीया तद्देशीयाढ्या। संस्कृताढ्या च गौर्जरी। चकारात् पूर्वोक्तटक्कभाषाग्रहणम्। रत(ल)हभां व्यत्ययेन पाश्चात्या। रेफव्यत्ययेन द्राविडी। ढकारबहुला वैतालिकी। एओबहुला काञ्ची। शेषा देशभाषाविभेदात्।"

§ "नागरो व्राचडश्चोपनागरश्चेति ते त्रयः। अपभ्रंशाः परे सूक्ष्मभेदत्वान्न पृथङ् मताः" (प्रा० स० पृष्ठ ३)। "अन्येषामपभ्रंशानामेष्वेवान्तर्भावः" (प्रा० स० पृष्ठ १२२)।

हेमचन्द्र ने 'अपभ्रंश' इस सामान्य नाम से और मार्कण्डेय ने 'नागरापभ्रंश' इस विशेष नाम से जो लक्षण और उदाहरण दिये हैं वे राजस्थानी-अपभ्रंश या राजपूताना तथा गूजरात प्रदेश के अपभ्रंश से ही संबन्ध रखते हैं। ब्राचडापभ्रंश के नाम से सिन्धप्रदेश के अपभ्रंश के लक्षण और उदाहरण मार्कण्डेय ने अपने व्याकरण में दिये हैं, और उपनागर-अपभ्रंश का कोई लक्षण न देकर केवल नागर और ब्राचड के मिश्रण को 'उपनागर अपभ्रंश' कहा है। इसके सिवा सौरसेनी-अपभ्रंश के निदर्शन मध्यदेश के अपभ्रंश में पाये जाते हैं। अन्य अन्य प्रदेशों के अथवा महाराष्ट्री, अर्धमागधी, मागधी और पैशाची भाषाओं के जो अपभ्रंश थे उनका कोई साहित्य उपलब्ध न होने से कोई निदर्शन भी नहीं पाये जाते हैं।

उत्पत्ति-स्थान।

भिन्न भिन्न अपभ्रंश भाषा का उत्पत्ति-स्थान भी भारतवर्ष का भिन्न भिन्न प्रदेश है। रुद्रट ने और वाग्भट ने अपने अपने अलङ्कार-ग्रन्थ में यह बात संक्षेप में अथच स्पष्ट रूप में इस तरह कही है :—

"षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः" (काव्यालङ्कार २, १२),

"अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्" (वाग्भटालङ्कार २, ३)।

आधुनिक आर्य कथ्य भाषाओं की प्रकृति।

खिस्त की पञ्चम शताब्दी के पूर्व से लेकर दशम शताब्दी पर्यन्त भारत के भिन्न भिन्न प्रदेश में कथ्य भाषाओं के रूप में प्रचलित जिस जिस अपभ्रंश भाषा से भिन्न भिन्न प्रदेश की जो जो आधुनिक आर्य कथ्य भाषा (Modern Vernacular) उत्पन्न हुई है उसका विवरण यों है :—

महाराष्ट्री-अपभ्रंश से मराठी और कोंकणी भाषा।
मागधी-अपभ्रंश की पूर्व शाखा से बंगला, उडिया और आसामी भाषा।
मागधी-अपभ्रंश की बिहारी शाखा से मैथिली, मगही और भोजपुरिया।
अर्धमागधी-अपभ्रंश से पूर्वीय हिन्दी भाषायें अर्थात् अवधी, बघेली और छत्तीसगढी।
सौरसेनी-अपभ्रंश से बुन्देली, कनौजी, व्रजभाषा, बाँगरू, हिन्दी या उर्दू ये पाश्चात्य हिन्दी भाषायें।
नागर-अपभ्रंश से राजस्थानी, मालवी, मेवाडी, जयपुरी, मारवाडी तथा गूजराती भाषा।
पालि से सिंहली और मालदीवन।
टाक्की अथवा ढाक्की से लहण्डी या पश्चिमीय पंजाबी।
टाक्की-अपभ्रंश (सौरसेनी के प्रभाव-युक्त) से पूर्वीय पंजाबी।
ब्राचड-अपभ्रंश से सिन्धी भाषा।
पैशाची-अपभ्रंश से काश्मीरी भाषा।

लक्षण। नागर-अपभ्रंश के प्रधान प्रधान लक्षण ये हैं :—

वर्ण-परिवर्तन।

१। भिन्न भिन्न स्वरों के स्थान में भिन्न भिन्न स्वर होते हैं; यथा—कृत्य=कच्च, काच्च; वचन=वेण, वीण; बाहु=बाह, बाहा, बाहु; पृष्ठ=पट्ठि, पिट्ठि, पुट्ठि; तृण=तण,तिण, तृण; सुकृत=सुकिद, सुकृद; लेखा=लिह, लीह, लेह।

२। स्वरों के मध्यवर्ती असंयुक्त क, ख, त, थ, प और फ के स्थान में प्रायः क्रमशः ग, घ, द, ध, व और भ होता है; यथा—विच्छेदकर=विच्छोहगर; सुख=सुघ, कथित=कधिद, शपथ=सवध, सफल=सभल।

३। अनादि और असंयुक्त म के स्थान में वैकल्पिक सानुनासिक व होता है, यथा—कमल=कवँल, कमल; भ्रमर=भवँर, भमर।

४। **संयोग में परवर्ती** र **का विकल्प से लोप होता है; यथा**—प्रिय=पिय, प्रिय; चन्द्र=चन्द, चन्द्र।

५। **कहीं कहीं संयोग के परवर्ती** य **का विकल्प से** र **होता है, जैसे**—व्यास=वास, वास; व्याकरण=वागरण, वागरण।

६। **महाराष्ट्री में जहाँ** म्ह **होता है वहाँ अपभ्रंश में** म्भ **और** म्ह **दोनों होते हैं, यथा**—ग्रीष्म=गिम्भ, गिम्ह; श्लेष्म=सिम्भ, सिम्ह।

नाम-विभक्ति।

१। **विभक्ति के प्रसङ्ग में ह्रस्व स्वर का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व प्रायः होता है, यथा**—श्यामलः=सामला, खड्गाः=खग्ग; दृष्टिः=दिट्ठि, पुत्री=पुत्ति।

२। **साधारणतः सातों विभक्ति के जो प्रत्यय हैं वे नीचे दिये जाते हैं। लिंग-भेद में और शब्द-भेद में अनेक विशेष प्रत्यय भी हैं, जो विस्तार-भय से यहाँ नहीं दिये गये हैं।**

	एकवचन।	**बहुवचन।**
प्रथमा	उ, हो	०
द्वितीया	,,	०
तृतीया	एं	हिं
चतुर्थी	सु, हो, स्सु	हं, ०
पञ्चमी	हे, हु	हुं
षष्ठी	सु, हो, स्सु	हं, ०
सप्तमी	इ, हि	हिं

आख्यात-विभक्ति।

		एकवचन।	**बहुवचन।**
१।	१ पु०	उं	हुं
	२ पु०	हि	हु
	३ पु०	इ, ए	हिं

२। **मध्यम पुरुष के एकवचन में आज्ञार्थ में** इ, उ **और** ए **होते हैं, यथा**—कुरु=करि, करु, करे।

३। **भविष्यत्काल में प्रत्यय के पूर्व में** स **आगम होता है—यथा**—भविष्यति=होसइ।

कृदन्त।

१। तव्य-**प्रत्यय के स्थान में** इएव्वउं, एव्वउं **और** एवा **होता है, यथा**—कर्तव्य=करिएव्वउं, करेव्वउ, करेवा।

२। त्वा **के स्थान में** इ, इउ, इवि, अवि, एप्पि, एप्पिणु, एवि, एविणु **होते हैं, यथा**—कृत्वा=करि, करिउ, करिवि, करवि, करेप्पि, करेप्पिणु, करेवि, करेविणु।

३। तुम्-**प्रत्यय को जगह** एवं, अण, अणहं, अणहिं, एप्पि, एप्पिणु, एवि, एविणु **होते हैं, यथा**—कर्तुम्=करेवं, करण, करणहं, करणहिं, करेप्पि, करेप्पिणु, करेवि, करेविणु।

४। **शीलाद्यर्थक** तृ-**प्रत्यय के स्थान में** अणअ **होता है, जैसे**—कर्तृ=करणअ, मारयितृ=मारणअ।

तद्धित।

१। त्व **और** ता **के स्थान में** प्पण **होता है, यथा**—देवत्व=देवप्पण, महत्त्व=वड्डप्पण।

हम पहले यह कह आये हैं कि वैदिक और लौकिक संस्कृत के शब्दों के साथ तुलना करने पर जिस प्राकृत भाषा में वर्ण-लोप-प्रभृति परिवर्तन जितना अधिक प्रतीत हो, वह उतनी ही परवर्ती काल में उत्पन्न मानी जानी चाहिए। इस नियम के अनुसार, हम देखते हैं कि महाराष्ट्री प्राकृत में व्यञ्जनों का लोप सर्वापेक्षा अधिक है, इससे वह अन्यान्य प्राकृत-भाषाओं के पीछे उत्पन्न हुई है, ऐसा अनुमान किया जाता है। परन्तु अपभ्रंश में उक्त नियम का व्यत्यय देखने में आता है, क्योंकि भिन्न भिन्न प्रदेशों की अपभ्रंश-भाषायें यद्यपि महाराष्ट्री के बाद ही उत्पन्न हुई हैं तथापि महाराष्ट्री में जो व्यञ्जन-वर्ण-लोप देखा जाता है, अपभ्रंश में उसकी अपेक्षा अधिक नहीं, बल्कि कम ही वर्ण-लोप पाया जाता है और ऋ स्वर तथा संयुक्त रकार भी विद्यमान है। इस पर से यह अनुमान करना असंगत नहीं है कि वर्ण-लोप की गति ने महाराष्ट्री प्राकृत में अपनी चरम सीमा को पहुँच कर उसको (महाराष्ट्री को) अस्थि-हीन माँस-पिण्ड की तरह स्वर-बहुल आकार में परिणत कर दिया। अपभ्रंश में उसीकी प्रतिक्रिया शुरू हुई, और प्राचीन स्वर एवं व्यञ्जनों को फिर स्थान दे कर भाषा को भिन्न आदर्श में गठित करने की चेष्टा हुई। उस चेष्टा का ही यह फल है कि पिछले समय में संस्कृत-भाषा का प्रभाव फिर प्रतिष्ठित होकर आधुनिक आर्य कथ्य भाषायें उत्पन्न हुई हैं।

अपभ्रंशों का भिन्न आदर्श में गठन।

प्राकृत पर संस्कृत का प्रभाव।

जैन और बौद्धों ने संस्कृत भाषा का परित्याग कर उस समय की कथ्य भाषा में धर्मोपदेश को लिपि-बद्ध करने की प्रथा प्रचलित की थी। इससे जो दो नयी साहित्य-भाषाओं का जन्म हुआ था, वे जैन सूत्रों की अर्धमागधी और बौद्ध धर्म-ग्रन्थ की पालि भाषा हैं। परन्तु ये दो साहित्य-भाषायें और अन्यान्य समस्त प्राकृत-भाषायें संस्कृत के प्रभाव को उल्लंघन नहीं कर सकी हैं। इस बात का एक प्रमाण तो यह है कि इन समस्त प्राकृत-भाषाओं में संस्कृत-भाषा के अनेक शब्द अविकल रूप में गृहीत हुए हैं। ये शब्द तत्सम कहे जाते हैं। यद्यपि इन तत्सम शब्दों ने प्रथम स्तर की प्राकृत-भाषाओं से ही संस्कृत में स्थान और रक्षण पाया था, तो भी यह स्वीकार करना ही होगा कि ये सब शब्द परवर्ती काल की प्राकृत-भाषाओं में जो अपरिवर्तित रूप में व्यवहृत होते थे वह संस्कृत-साहित्य का ही प्रभाव था।

इसके अतिरिक्त, संस्कृत के ही प्रभाव से बौद्धों में एक मिश्र-भाषा उत्पन्न हुई थी। महायान-बौद्धों के महावैपुल्यसूत्र-नामक कतिपय सूत्र-ग्रन्थ हैं। ललितविस्तर, सद्धर्म-पुण्डरीक, चन्द्रप्रदीपसूत्र प्रभृति इसके अन्तर्गत हैं। इन ग्रन्थों की भाषा में अधिकांश शब्द तो संस्कृत के हैं ही, अनेक प्राकृत-शब्दों के आगे भी संस्कृत की विभक्ति लगाकर उनको भी संस्कृत के अनुरूप किये गये हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने इस भाषा को 'गाथा' नाम दिया है। परन्तु यहाँ पर यह कहना आवश्यक है कि इसका यह 'गाथा' नाम असंगत है, क्योंकि यह संस्कृत-मिश्रित प्राकृत का प्रयोग उक्त ग्रन्थों के केवल पद्यांशों में ही नहीं, बल्कि गद्यांश में भी देखा जाता है। इससे इन ग्रन्थों की भाषा को 'गाथा' न कह कर 'प्राकृत-मिश्र संस्कृत' या 'संस्कृत-मिश्र प्राकृत' अथवा संक्षेप में 'मिश्र-भाषा' ही कहना उचित है।

गाथा-भाषा।

डो. बर्नफ और डो. राजेन्द्रलाल मित्र का मत है कि 'संस्कृत-भाषा क्रमशः परिवर्तित होती हुई प्रथम गाथा-भाषा के रूप में और बाद में पालि-भाषा के आकार में परिणत हुई है। इस तरह गाथा-भाषा संस्कृत और पालि की मध्यवर्ती होने के कारण इन दोनों के (संस्कृत और पालि के) लक्षणों से आक्रान्त है।'

यह सिद्धान्त सर्वथा भ्रान्त है, क्योंकि हम यह पहले ही अच्छी तरह प्रमाणित कर चुके हैं कि संस्कृत-भाषा क्रमशः परिवर्तित होकर पालि-भाषा में परिणत नहीं हुई है, किन्तु पालि-भाषा वैदिक-युग की एक प्रादेशिक भाषा से ही उत्पन्न हुई है। और, गाथा-भाषा पालि-भाषा के पहले प्रचलित न थी, क्योंकि गाथा-भाषा के समस्त ग्रन्थों का रचना-काल ख्रिस्त-पूर्व दो सौ वर्षों से लेकर ख्रिस्त की तृतीय शताब्दी पर्यन्त का है, इससे गाथा-भाषा बहुत तो पालि-भाषा की समकालीन हो सकती है, न कि पालि-भाषा की पूर्वावस्था। यह भाषा संस्कृत के प्रभाव को कायम रख कर विभिन्न प्राकृत-भाषाओं के मिश्रण से बनी है, इसमें संदेह नहीं है। यही कारण है कि इसके शब्दों को प्रस्तुत कोष में स्थान नहीं दिया गया है।

गाथा-भाषा का थोड़ा नमूना ललितविस्तर से यहां उद्धृत किया जाता है :—

"अध्रुवं त्रिभवं शरदभ्रनिभं, नटरङ्गसमा जगि जन्मि च्युति।
गिरिनद्यसमं लघुशीघ्रजवं, व्रजतायु जगे यथ विद्यु नभे॥ १॥"
"उदकचन्द्रसमा इमि कामगुणाः, प्रतिबिम्ब इवा गिरिघोष यथा।
प्रतिभाससमा नटरङ्गसमास्तथ स्वप्नसमा विदितार्यजनैः॥ १॥" (पृष्ठ २०४, २०६)।

बुद्धदेव और उसके सारथि की आपस में बातचीत :—

"एषो हि देव पुरुषो जरयाभिभूतः, क्षीणेन्द्रियः सुदुःखितो बलवीर्यहीनः।
बन्धुजनेन परिभूत अनाथभूतः, कार्यासमर्थ अपविद्ध वनेव दारु॥
कुलधर्म एष अयमस्य हि त्वं भणाहि, अथवापि सर्वजगतोऽस्य इयं ह्यवस्था।
शीघ्रं भणाहि वचनं यथभूतमेतत्, श्रुत्वा तथार्थमिह योनि संचिन्तयिष्ये॥
नैतस्य देव कुलधर्म न राष्ट्रधर्मः, सर्वे जगस्य जर यौवन धर्षयाति।
तुभ्यंपि मातृपितृबान्धवज्ञातिसंघो, जरया अमुक्तं नहि अन्यगतिर्जनस्य॥
धिक् सारथे अबुधबालजनस्य बुद्धिर्यद् यौवनेन मदमत्त जरां न पश्ये।
आवर्तयस्विह रथं पुनरहं प्रवेक्ष्ये, किं मह्य क्रीडरतिभिर्जरया श्रितस्य॥"

संस्कृत पर प्राकृत का प्रभाव।

पहले जो यह कहा जा चुका है कि वैदिक काल के मध्यदेश-प्रचलित प्राकृत से ही वैदिक संस्कृत उत्पन्न हुआ है और वह साहित्य और व्याकरण के द्वारा क्रमशः मार्जित और नियन्त्रित होकर अन्त में लौकिक संस्कृत में परिणत हुआ है; एवं प्राकृत के अन्तर्गत समस्त तत्सम शब्द संस्कृत से नहीं, परन्तु प्रथम स्तर के प्राकृत से ही संस्कृत में और द्वितीय स्तर के प्राकृत में आये हैं; प्राकृत के अन्तर्गत तद्भव शब्द भी संस्कृत से प्राकृत में गृहीत न होकर प्रथम स्तर के प्राकृत से ही क्रमशः परिवर्तित होकर परवर्ती काल के प्राकृत में स्थान पाये हैं और संस्कृत व्याकरण-द्वारा नियन्त्रित होने से वे शब्द संस्कृत में अपरिवर्तित रूप में ही रह गये हैं; इसी तरह प्राकृत के अधिकांश देशी-शब्द भी वैदिक काल के मध्यदेश-भिन्न अन्यान्य प्रदेशों के आर्य-उपनिवेशों की प्राकृत-भाषाओं से ही बाद की प्राकृत-भाषाओं में आये हैं; इससे उन्होंने (देशीशब्दों ने) मध्यदेश के प्राकृत से उत्पन्न वैदिक और लौकिक संस्कृत में कोई स्थान नहीं पाया है। इस पर से यह सहज ही समझा जा सकता है कि प्राकृत ही संस्कृत भाषा का मूल है।

अब इस जगह हम यह बताना चाहते हैं कि प्राकृत से न केवल वैदिक और लौकिक संस्कृत भाषायें उत्पन्न ही हुई हैं, बल्कि संस्कृत ने मृत होकर साहित्य-भाषा में परिणत होने पर भी अपनी अंग-पुष्टि के लिए प्राकृत से ही अनेक शब्दों का संग्रह किया है। ऋग्वेद आदि में प्रयुक्त वंक (वक्र), वहू (वधू),

मेह (मेघ), **पुराण** (पुरातन), **तितउ** (चालनी), **उच्छेक** (उत्सेक), **प्रभृति शब्द और लौकिक संस्कृत में प्रचलित तितउ** (चालनी), **आवुत्त** (भगिनीपति), **खुर** (क्षुर), **गोखुर** (गोक्षुर), **गुग्गुलु** (गुल्गुलु), **छुरिका** (क्षुरिका), **अच्छ** (ऋक्ष), **कच्छ** (कक्ष), **पियाल** (प्रियाल), **गल्ल** (गण्ड), **चन्दिर** (चन्द्र), **इन्दिर** (इन्द्र), **शिथिल** (श्लथ), **मरन्द** (मकरन्द), **किसल** (किसलय), **हाला** (सुराविशेष), **हेवाक** (व्यसन), **दाढा** (दंष्ट्रा), **खिडक्किका** (लघुद्वार, भाषा में खिड़की), **जारुज** (जरायुज), **पुराण** (पुरातन), **वगैरः शब्द प्राकृत से ही अविकल रूप में गृहीत हुए हैं और मारिष** (मार्ष), **जहिष्यसि** (हास्यसि), **ब्रूमि** (ब्रवीमि), **निकृन्तन** (निकर्तन), **लटभ** (सुन्दर), **प्रभृति प्राकृत के ही मूल शब्द मार्जित कर संस्कृत में लिये गये हैं।**

प्राकृत-भाषाओं का उत्कर्ष।

कोई भी कथ्य भाषा क्यों न हो, वह सर्वदा ही परिवर्तन-शील होती है। साहित्य और व्याकरण उसको नियम के बन्धन में जकड कर गति-हीन और अपरिवर्तनीय करते हैं। उसका फल यह होता है कि साहित्य की भाषा क्रमशः कथ्य भाषा से भिन्न हो जाती है और जन-साधारण में अप्रचलित होकर मृत-भाषा में परिणत होती है। साहित्य की हरकोई भाषा एक समय की कथ्य भाषा से ही उत्पन्न होती है और वह जब मृत-भाषा में परिणत होती है तब कथ्य भाषा से फिर एक नयी साहित्य की भाषा की सृष्टि होती है। इस तरह एक समय की कथ्य भाषा से ही वैदिक और लौकिक संस्कृत उत्पन्न हुई थी और वह साधारण के पक्ष में दुर्बोध होने पर अर्धमागधी, पालि आदि प्राकृत भाषाओं ने साहित्य में स्थान पाया था। ये सब प्राकृत-भाषायें भी समय पाकर जन-साधारण में दुर्बोध हो जाने पर संस्कृत की तरह मृत-भाषा में परिणत हो गईं और भिन्न भिन्न प्रदेश की अपभ्रंश-भाषायें साहित्य-भाषाओं के रूप में व्यवहृत होने लगीं। अपभ्रंश-भाषायें भी जब दुर्बोध होकर मृत-भाषाओं में परिणत हो चली तब हिन्दी, बंगला, गूजराती, मराठी प्रभृति आधुनिक आर्य कथ्य भाषायें साहित्य की भाषाओं के रूप में गृहीत हुई हैं। उक्त समस्त कथ्य भाषायें उस उस युग की साहित्य की मृत-भाषाओं की तुलना में अवश्य ऐसे कतिपय उत्कर्षों से विशिष्ट होनी चाहिएँ जिनकी बदौलत ही ये उस उस समय की मृत-भाषाओं को साहित्य के सिंहासन से च्युत कर उस सिंहासन को अपने अधिकार में कर पायी थीं। अब यहाँ हमें यह जानना जरूरी है कि ये उत्कर्ष कौन थे ?

हरकोई भाषा का सर्व-प्रथम उद्देश्य होता है अर्थ-प्रकाश। इसलिए जिस भाषा के द्वारा जितने स्पष्ट रूप से और जितने अल्प प्रयास से अर्थ-प्रकाश किया जाय वह उतनी ही उत्कृष्ट भाषा मानी जाती है। इन दो कारणों के वश होकर ही भाषा का निरन्तर परिवर्तन साधित होता है और भिन्न भिन्न काल में भिन्न भिन्न कथ्य-भाषाओं से नयी नयी साहित्य-भाषाओं की उत्पत्ति होती है। वैदिक संस्कृत क्रमशः लुप्त होकर लौकिक संस्कृत की उत्पत्ति उक्त दो कारणों से ही हुई थी। वैदिक शब्द-समूह अप्रचलित होने पर उसके अनावश्यक प्रकृति और प्रत्ययों को बाद देकर जो सहज ही समझ में आ सके वैसी प्रकृति और प्रत्ययों का संग्रह कर वैदिक भाषा से लौकिक संस्कृत की उत्पत्ति हुई थी। संस्कृत-भाषा के प्रकृति-प्रत्यय काल-क्रम से अप्रचलित होकर जब दुःख-बोध्य हो उठे तब उस समय की कथ्य भाषाओं से ही स्पष्टार्थक, सुखोच्चारण-योग्य, मधुर और कोमल प्रकृति-प्रत्ययों का संग्रह कर संस्कृत के अनावश्यक, दुर्बोध, कष्टोच्चारणीय, कठोर और कर्कश प्रकृति-प्रत्यय-सन्धि-समासों का वर्जन कर अर्धमागधी, पाली और अन्यान्य प्राकृत-भाषायें साहित्य-भाषाओं के रूप में व्यवहृत होने लगीं। यदि इन सब नूतन साहित्य-भाषाओं में संस्कृत की अपेक्षा अर्थ-प्रकाश

की अधिक शक्ति, अल्प आयास से और सुख से उच्चारण-योग्यता प्रभृति गुण न होते तो ये कभी भी संस्कृत जैसी समृद्ध भाषा को साहित्य के सिंहासन से च्युत करने में समर्थ न होतीं। काल-क्रम से ये सब प्राकृत-साहित्य-भाषायें भी जब व्याकरण-द्वारा नियन्त्रित होकर अप्रचलित और जन-साधारण में दुर्बोध हो चलीं तब उस समय प्रचलित प्रादेशिक अपभ्रंश-भाषाओं ने इनको हटाकर साहित्य-भाषाओं का स्थान अपने अधिकार में किया। यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि साहित्य की प्राकृत-भाषाओं की अपेक्षा इन अपभ्रंश-भाषाओं में वह कौनसा गुण था जिससे ये अपने पहले की प्राकृत-साहित्य-भाषाओं को परास्त कर उनके स्थान को अपने अधिकार में कर सकीं? इसका उत्तर यह है कि कोई भी गुण चरम सीमा में पहुँच जाने पर फिर वह गुण ही नहीं रहने पाता, वह दोष में परिणत हो जाता है। संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत-भाषाओं में यह उत्कर्ष था कि इनमें संस्कृत के कर्कश और कष्टोच्चारणीय असंयुक्त और संयुक्त व्यञ्जन वर्णों के स्थान में सब कोमल और सुखोच्चारणीय वर्ण व्यवहृत होते थे। किन्तु इस गुण की भी सीमा है, महाराष्ट्री-प्राकृत में यह गुण सीमा का अतिक्रम कर गया, यहाँतक कि संस्कृत के अनेक व्यञ्जनों का एकदम ही लोप कर उनके स्थान में स्वर-वर्णों की परम्परा-द्वारा समस्त शब्द गठित होने लगे। इससे इन शब्दों के उच्चारण सुख-साध्य होने के बदले अधिकतर कष्ट-साध्य हुए, क्योंकि बीच बीच में व्यञ्जन-वर्णों से व्यवहित न होकर केवल स्वर-परम्परा का उच्चारण करना कष्टकर होता है। इस तरह प्राकृत-भाषा महाराष्ट्री-प्राकृत में आकर जब इस चरम अवस्था में उपनीत हुई तबसे ही इसका पतन अनिवार्य हो उठा। इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप अपभ्रंश-भाषाओं में नूतन व्यञ्जन-वर्ण बिठा कर सुखोच्चारण-योग्यता करने की चेष्टा हुई। इसका फल यह हुआ कि प्रादेशिक अपभ्रंश-भाषायें साहित्य की भाषाओं के रूप में उन्नीत हुईं। आधुनिक प्रादेशिक आर्य-भाषायें भी प्राकृत-भाषाओं के उस दोष का पूर्ण संशोधन करने के लिए नूतन संस्कृत शब्दों को ग्रहण कर अपभ्रंशों के स्थान को अपने अधिकार में करके नवीन साहित्य-भाषाओं के रूप में परिणत हुई हैं। आधुनिक आर्य-भाषाओं में पूर्व-वर्ती प्राकृतों और अपभ्रंशों की अपेक्षा उत्कर्ष यह है कि इन्होंने शब्दों के संबन्ध में प्राकृत और संस्कृत को मिश्रित कर उभय के गुणों का एक सुन्दर सामञ्जस्य किया है। इनके तद्भव और देश्य शब्दों में प्राकृत की कोमलता और मधुरता है और तत्सम शब्दों में संस्कृत की ओजस्विता। आधुनिक आर्य-भाषाओं में संस्कृत और प्राकृत दोनों की अपेक्षा उत्कर्ष यह है कि ये संस्कृत और प्राकृतों के अनावश्यक लिंग, वचन और विभक्तिओं के भेदों का वर्जन कर, उनके बदले भिन्न भिन्न स्वतन्त्र शब्दों के द्वारा लिंग, वचन और विभक्तिओं के भेदों को प्रकाशित कर और संस्कृत तथा प्राकृतों के विभक्ति-बहुल स्वभाव का परित्याग कर विश्लेषण-शील-भाषा में परिणत हुई हैं। इस तरह इन भाषाओं ने अल्प आयास से वक्ता के अर्थ को अधिकतर स्पष्ट रूप में प्रकाशित करने का मार्ग-प्रदर्शन किया है। उक्त गुणों के कारण ही आधुनिक आर्य-भाषाओं ने वैदिक, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश इन सब साहित्य-भाषाओं के स्थान पर अपना अधिकार जमाया है।

संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत-भाषाओं में जो उत्कर्ष—गुण—ऊपर बताये हैं वे अनेक प्राचीन ग्रन्थकारों ने पहले ही प्रदर्शित किये हैं। उनके ग्रन्थों से, प्राकृत के उत्कर्ष के संबन्ध में, कुछ वचन यहाँ पर उद्धृत किये जाते हैं :—

* "अमिअं पाउअ-कव्वं पढिउं सोउं च जे ण आणंति।
कामस्स तत्त-तत्तिं कुणंति, ते कह ण लज्जंति ?॥ (हाल की गाथासप्तशती १, २)।

अर्थात् जो लोग अमृतोपम प्राकृत-काव्य को न तो पढ़ना जानते हैं और न सुनना जानते हैं अथच काम-तत्त्व की आलोचना करते हैं उनको शरम क्यों नहीं आती?

---

* अमृतं प्राकृतकाव्यं पठितुं श्रोतुं च ये न जानन्ति। कामस्य तत्त्वचिन्तां कुर्वन्ति, ते कथं न लज्जन्ते ?॥

* "उम्मिल्लइ लावरायं पयय-च्छायाए सक्कय-वयाणं ।
सक्कय-सक्कारुक्करिसणेण पययस्सवि पहावो ॥" (वाक्पतिराज का गउडवहो ६५) ।

संस्कृत शब्दों का लावण्य प्राकृत की छाया से हो व्यक्त होता है; संस्कृत-भाषा के उत्कृष्ट संस्कार में भी प्राकृत का प्रभाव व्यक्त होता है ।

† "णवमत्थ-दंसणं संनिवेस-सिसिराओ बंध-रिद्धीओ ।
अविरलमिणमो आभुवण-बंधमिह णवर पययम्मि ॥" (गउडवहो ७२) ।

सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक प्रचुर परिमाण में नूतन नूतन अर्थों का दर्शन और सुन्दर रचना वाली प्रबन्ध-संपत्ति कहीं भी है तो वह केवल प्राकृत में ही ।

‡ "हरिस-विसेसो वियसावओ य मउलावओ य अच्छीण ।
इह बहि-हुत्तो अंतो-मुहो य हिययस्स विप्फुरइ ॥" (गउडवहो ७४) ।

प्राकृत-काव्य पढने के समय हृदय के भीतर और बाहर एक ऐसा अभूत-पूर्व हर्ष होता है कि जिससे दोनों आँखें एक ही साथ विकसित और मुद्रित होती हैं ।

§ "पुरुसो सक्कअ-बंधो पाउअ-बंधोवि होइ सुउमारो ।
पुरिस-महिलाणं जेत्तिअमिहंतरं तेत्तिअमिमाणं ॥" (राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी, अङ्क १) ।

संस्कृत-भाषा कर्कश और प्राकृत भाषा सुकुमार है । **पुरुष और महिला में जितना अन्तर है, इन दो भाषाओं में भी उतना ही प्रभेद है ॥**

"गिरः श्रव्या दिव्याः **प्रकृतिमधुरः प्राकृतगिरः**
सुभव्योऽपभ्रंशः सरसरचनं भूतवचनम् ।" (राजशेखर का बालरामायण १, ११)

संस्कृत-भाषा सुनने योग्य है, प्राकृत भाषा स्वभाव-मधुर है, **अपभ्रंश-भाषा भव्य है और पैशाची-भाषा की रचना रस-पूर्ण है ।**

× "सक्कय-कव्वस्सत्थं जेण न याणंति मंद-बुद्धीया ।
सव्वाणवि सुह-बोहं तेणेमं पाययं रइयं ॥
गुढत्थ-देसि-रहियं सुललिय-वन्नेहिं विरइयं रम्मं ।
पायय-कव्वं लोए कस्स न हिययं सुहावेइ ? ॥ (महेश्वरसूरि का पञ्चमीमाहात्म्य)

सामान्य मनुष्य संस्कृत-काव्य के अर्थ को समझ नहीं पाते हैं । इसलिए यह ग्रन्थ उस प्राकृत-भाषा में रचा जाता है जो सब लोगों को सुख-बोध्य है ।

गूढार्थक देशी-शब्दों से रहित और सुललित पदों में रचा हुआ सुन्दर प्राकृत-काव्य किसके हृदय को सुखी नहीं करता ?

"÷ उज्झउ सक्कय-कव्वं सक्कय-कव्वं च निम्मियं जेण ।
वंस-हरं व पलित्तं तडयडतट्टत्तणं कुणइ ॥"
(वज्जालग्ग(?) से अपभ्रंशकाव्यत्रयी की प्रस्ता० पृष्ठ ७६ में उद्धृत)

---

* उन्मीलति लावण्यं प्राकृतच्छायया संस्कृतपदानाम् । संस्कृतसंस्कारोत्कर्षणेन प्राकृतस्यापि प्रभावः ॥
† नवमार्थदर्शनं संनिवेशशिशिरा बन्धर्द्धयः । अविरलमिदमाभुवनबन्धमिह केवलं प्राकृते ॥
‡ हर्षविशेषो विकासको मुकुलीकारकश्चाक्षणोः । इह बहिर्मुखोऽन्तर्मुखश्च हृदयस्य विस्फुरति ॥
§ पुरुषः संस्कृतबन्धः प्राकृतबन्धस्तु भवति सुकुमारः । पुरुषमहिलयोर्यावदिहान्तरं तावदनयोः ॥
× संस्कृतकाव्यस्यार्थं येन न जानन्ति मन्दबुद्धयः । सर्वेषामपि सुखबोधं तेनेदं प्राकृतं रचितम् ॥
गुढार्थदेशीरहितं सुललितवर्णैर्विरचितं रम्यम् । प्राकृतकाव्यं लोके कस्य न हृदयं सुखयति ? ॥
÷ उज्झ्यतां संस्कृतकाव्यं संस्कृतकाव्यं च निर्मितं येन । वंशगृहमिव प्रदीप्तं तडतडतट्टत्वं करोति ॥

संस्कृत-काव्य को छोड़ो और जिसने संस्कृत-काव्य की रचना की है उसका भी नाम मत लो, क्योंकि वह (संस्कृत) जलते हुए बाँस के घर की तरह 'तड तड तट्ट' आवाज करता है— श्रुतिकटु लगता है।

"* पाइय-कव्वम्मि रसो जो जायइ तह व छेय-भणिएहिं।
उययस्स य वासिय-सीयलस्स तित्तिं न वच्चामो॥
ललिए महुरक्खरए जुवई-यण-वल्लहे स-सिंगारे।
संते पाइय-कव्वे को सक्कइ सक्कयं पढिउं?॥" (जयवल्लभ का वज्जालग्ग, पृष्ठ ६)

प्राकृत-भाषा की कविता में और विदग्ध के वचनों में जो रस आता है उससे, वासी और शीतल जल की तरह, तृप्ति नहीं होती है—मन कभी ऊबता नहीं है—उत्कण्ठा निरन्तर बनी ही रहती है।

जब सुन्दर, मधुर, शृङ्गार-रस-पूर्ण और युवतिओं को प्रिय ऐसा प्राकृत-काव्य मौजुद है तब संस्कृत पढने को कौन जाता है?

---

* प्राकृतकाव्ये रसो यो जायते तथा वा छेकभणितैः। उदकस्य च वासितशीतलस्य तृप्तिं न व्रजामः॥
ललिते मधुराक्षरके युवतिजनवल्लभे सशृङ्गारे। सति प्राकृतकाव्ये कः ष्वष्कते संस्कृतं पठितुम्?॥

इस कोष में स्वीकृत पद्धति।

१। प्रथम काले टाइपों में क्रम से **प्राकृत शब्द**, उसके बाद सादे टाइपों में उस प्राकृत शब्द के **लिङ्ग** आदि का संक्षिप्त निर्देश, उसके पश्चात् काले कोष्ठ (ब्राकेट) में काले टाइपों में प्राकृत शब्द का **संस्कृत प्रतिशब्द**, उसके अनन्तर सादे टाइपों में हिन्दी भाषा में अर्थ और तदनन्तर सादे टाइपों में ब्राकेट में प्रमाण (रेफरेंस) का उल्लेख किया गया है।

२। शब्दों का क्रम नागरी वर्ण-माला के अनुसार इस तरह रखा गया है;—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, क, ख, ग आदि। इस तरह अनुस्वार के स्थान को गणना संस्कृत-कोषों की तरह पर-सवर्ण अनुनासिक व्यञ्जन के स्थान में न कर अन्तिम स्वर के बाद और प्रथम व्यञ्जन के पूर्व में ही करने का कारण यह है कि संस्कृत की तरह प्राकृत में *व्याकरण की दृष्टि से भी अनुस्वार के स्थान में अनुनासिक का होना कहीं भी अनिवार्य नहीं है और प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तकों में प्रायः सर्वत्र अनुस्वार का ही प्रयोग पाया जाता है।

३। प्राकृत शब्द का प्रयोग विशेष रूप से आर्ष (अर्धमागधी) और महाराष्ट्री भाषा के अर्थ में और सामान्य रूप से आर्ष से ले कर अपभ्रंश-भाषा तक के अर्थ में किया जाता है। प्रस्तुत कोष के 'प्राकृत-शब्द-महार्णव' नाम में प्राकृत-शब्द सामान्य अर्थ में ही गृहीत है। इससे यहाँ † आर्ष, महाराष्ट्री, शौरसेनी, अशोक-शिलालिपि, देश्य, मागधी, पैशाची, चूलिकापैशाची तथा अपभ्रंश भाषाओं के शब्दों का संग्रह किया गया है। परन्तु प्राचीनता और साहित्य की दृष्टि से इन सब भाषाओं में आर्ष और महाराष्ट्री का स्थान ऊँचा है। इससे इन दोनों के शब्द यहाँ पूर्ण रूप से लिये गये हैं और शौरसेनी आदि भाषाओं के प्रायः उन्हीं शब्दों को स्थान दिया गया है जो या तो प्राकृत (आर्ष और महाराष्ट्री) से विशेष भेद रखते हैं अथवा जिनका प्राकृत रूप नहीं पाया गया है, जैसे 'य्येव', 'विधुव', 'संपादइत्तअ', 'संभावीअदि' वगैरः। इस भेद की पहिचान के लिए प्राकृत से इतर भाषा के शब्दों और आख्यात-कृदन्त के रूपों के आगे सादे टाइपों में कोष्ठ में उस उस भाषा का संक्षिप्त नाम-निर्देश कर दिया गया है, जैसे ‡ '(शौ)', '(मा)' इत्यादि। परन्तु शौरसेनी आदि में भी जो शब्द या रूप प्राकृत के ही समान है वहाँ ये भेद-दर्शक चिह्न नहीं दिये गये हैं।

(क) आर्ष और महाराष्ट्री से शौरसेनी आदि भाषाओं के जिन शब्दों में सामान्य (सर्व-शब्द-साधारण) भेद है उनको इस कोष में स्थान दे कर पुनरावृत्ति-द्वारा ग्रन्थ के कलेवर को विशेष बढ़ाना इसलिए उचित नहीं समझा गया है कि वह सामान्य भेद प्राकृत-भाषाओं के साधारण अभ्यासी से भी अज्ञात नहीं है और वह उपोद्घात में भी उस उस भाषा के लक्षण-प्रसङ्ग में दिखा दिया गया है जिससे वह सहज ही ख्याल में आ सकता है।

(ख) आर्ष और महाराष्ट्री में भी परस्पर उल्लेखनीय भेद है। तिस पर भी यहाँ उनका भेद-निर्देश न करने का एक कारण तो यह है कि इन दोनों में इतर भाषाओं से अपेक्षा-कृत समानता अधिक है; दूसरा, प्रकृति की अपेक्षा प्रत्ययों में ही विशेष भेद है जो व्याकरण से संबन्ध रखता है, कोष से नहीं; तीसरा, जैन ग्रन्थकारों ने महाराष्ट्री-ग्रन्थों में भी आर्ष प्राकृत के शब्दों का अविकल रूप में अधिक व्यवहार कर उनको महाराष्ट्री का रूप दे दिया है §।

---

* देखो प्राकृतप्रकाश, सूत्र ४, १४; १७; हेमचन्द्र-प्राकृत-व्याकरण, सूत्र १,२५; और प्राकृतसर्वस्व, सूत्र ४,२३ आदि।

† प्राकृतसर्वस्व (पृष्ठ १-३) आदि में इनसे अतिरिक्त और भी प्राच्या, शाकारी आदि अनेक उपभेद बताये गये हैं, जिनका समावेश यहाँ सौरसेनी आदि इन्हीं मुख्य भेदों में यथास्थान किया गया है।

‡ इन संक्षिप्त नामों का विवरण संकेत-सूची में देखिए।

§ इसीसे डो. पिशल् आदि पाश्चात्य विद्वानों ने आर्ष-भिन्न जैन प्राकृत-ग्रन्थों की भाषा को 'जैन महाराष्ट्री' नाम दिया है। देखो डो. पिशल् का प्राकृतव्याकरण और डो. टेसेटोरी की उपदेशमाला की प्रस्तावना।

४। प्राकृत में यश्रुति वाला * नियम खूब ही अव्यवस्थित है। प्राकृत-प्रकाश, सेतुबन्ध, गाथासप्तशती और प्राकृतपिंगल आदि में इस नियम का एकदम अभाव है जब कि आर्ष, जैन महाराष्ट्री तथा गउडवहो-प्रभृति ग्रन्थों में इस नियम का हद से ज्यादः आदर देखा जाता है; यहाँ तक कि एक ही शब्द में कहीं तो यश्रुति है और कहीं नहीं, जैसे 'पअ' और 'पय', 'लोअ' और 'लोय'। इस कोष में ऐसे शब्दों की पुनरावृत्ति न कर कोई भी (यश्रुतिवाले 'य' से रहित या सहित) एक ही शब्द लिया गया है। इससे क्रम तथा इतर समान शब्द की तुलना की सुविधा के लिए आवश्यकतानुरूप कहीं कहीं रेफरेंस वाले शब्द के 'अ' के स्थान में 'य' और 'य' की जगह 'अ' किया गया है।

५। आर्ष ग्रन्थों में यश्रुतिवाले 'य' की तरह 'त' का प्रयोग भी बहुत हो पाया जाता है, जैसे 'अय' (अज) के स्थान में 'अत', 'अईअ' (अतीत) की जगह 'अतीय' आदि। ऐसे शब्दों की भी इस कोष में बहुधा पुनरावृत्ति न करके त-वर्जित शब्दों को ही विशेष रूप से स्थान दिया गया है।

६। संयुक्त शब्दों को उनके क्रमिक स्थान में अलग न दे कर मूल (पूर्व भाग वाले) शब्द के भीतर ही उत्तर भाग वाले शब्द अकारादि क्रम से काले टाइपों में दिये गये हैं और उसके पूर्व °(ऊर्ध्व बिन्दी) का चिह्न दिया गया है। ऐसे शब्द का संस्कृत प्रतिशब्द भी काले टाइपों में ° चिह्न दे कर दिये गये हैं। विशेष स्थानों में पाठकों की सुगमता के लिए संयुक्त शब्द उसके क्रमिक स्थान में अलग भी बतलाये गये हैं और उसके अर्थ तथा रेफरेंस के लिए मूल शब्द में जहाँ वे दिये गये हैं, देखने की सूचना की गई है।

(क) इन संयुक्त शब्दों में जहाँ 'देखो °——' से जिस शब्द को देखने को कहा गया है वहाँ उस शब्द को उसी मूल शब्द के भीतर देखना चाहिए न कि अन्य शब्द के अन्दर।

७। त्त, त्तण (त्व), आ, या (तल्), अर, यर, तराग (तर), अम, तम (तम) आदि सुगम और सर्वत्र-साधारण प्रत्यय वाले शब्दों में प्रत्ययों को छोड़ कर केवल मूल शब्द ही यहाँ लिये गये हैं। परन्तु जहाँ ऐसे प्रत्ययों में रूप आदि की विशेषता है वहाँ प्रत्यय-सहित शब्द भी लिये गये हैं।

८। धातुओं के सब रूप सादे टाइपों में और कृदन्तों के रूप काले टाइपों में धातु के भीतर दिये गये हैं।

(क) भाव तथा कर्म-कर्तरि रूपों का निर्देश भी धातु के भीतर 'कर्म—' से ही किया गया है।

(ख) भूत कृदन्त के रूप तथा अन्य आख्यात तथा कृदन्त के विशिष्ट रूप बहुधा अलग अलग अपने क्रमिक स्थान में दिये गये हैं।

९। जिन संस्करणों से शब्द-संग्रह किया गया है उनमें रही हुई संपादन की या प्रेस की भूलों को सुधार कर शुद्ध शब्द ही यहाँ दिये गये हैं। पाठकों के ज्ञानार्थ साधारण भूलों को छोड़ कर विशेष भूल वाले पाठ रेफरेंस के उल्लेख के अनन्तर-पूर्व में ज्यों के त्यों उद्धृत भी किये गये हैं और भूल वाले भाग की शुद्धि कौंस में '!' (शङ्काचिह्न) के बाद बतला दी गई है; जैसे देखो **छोब्भ, वब्भ** आदि शब्द।

(क) जहाँ भिन्न भिन्न ग्रन्थों में या एक ही ग्रन्थ के भिन्न भिन्न स्थानों में या संस्करणों में एक ही शब्द के अनेक संदिग्ध रूप पाये गये हैं और जिनके शुद्ध रूप का निर्णय करना कठिन जान पड़ा है वहाँपर ऐसे रूप वाले सब शब्द इस कोष में यथास्थान दिये गये हैं और तुलना के लिए ऐसे प्रत्येक शब्द के अन्त भाग में 'देखो—' लिख कर इतर रूप भी सूचाया गया है; जैसे देखो **'पुक्खलच्छिभय, पोक्खलच्छिलय'**; **'पेसल, पेसलेस'**; **'भयालि, सयालि'** आदि शब्द।

१०। एक ही ग्रन्थ के एक या भिन्न भिन्न संस्करणों के अथवा भिन्न भिन्न ग्रन्थों के पाठ-भेदों के सभी शुद्ध शब्द इस कोष में यथास्थान दिये गये हैं; जैसे—**परिज्झुसिय** (:भगवतीसूत्र २५—पत्र ९२३) और **परिझुसिय**

---

* हेमचन्द्र-प्राकृत-व्याकरण का सूत्र १, १८०।

(भग २५ टी—पत्र ९२५); **णिव्विदेज्ज** (भी. मा. का सूत्रकृताङ्ग १, २, ३, १२) और **णिव्विंदेज्ज** (आ. स. का सूत्रकृताङ्ग.१, २, ३, १२); **पविरल्लिय** (आ. स. का प्रश्नव्याकरण १, ५—पत्र ९१) और **पवित्थरिल्ल** (अभिधानराजेन्द्र का प्रश्नव्याकरण १, ५), **सामकोट्ठ** (समवायाङ्ग-सूत्र, पत्र १५३) और **सामिकुट्ठ** (प्रवचनसारोद्धार, द्वार ७) प्रभृति ।

११। संस्कृत की तरह प्राकृत में भी कम से कम शब्द के आदि के 'ब' तथा 'व' के विषय में गहरा मत-भेद है। एक ही शब्द कहीं बकारादि पाया जाता है तो कहीं वकारादि । जैसे भगवतीसूत्र में 'बत्थि' है तो विपाकश्रुत में 'वत्थि' छपा है । इससे ऐसे शब्दों को दोनों स्थानों में न देकर जो 'ब' या 'व' उचित जान पड़ा है उसी एक स्थल में वह शब्द दिया गया है और उभय प्रकार के शब्दों के रेफरेंस भी वहाँ ही दिये गये हैं। हाँ, जहाँ दोनों अक्षरों के अस्तित्व का स्पष्ट रूप से उल्लेख पाया गया है वहाँ दोनों स्थलों में वह शब्द दिया गया है, जैसे 'बप्फाउल' और 'वप्फाउल' * आदि ।

१२। लिङ्गादि-बोधक संक्षिप्त शब्द प्राकृत शब्द से ही संबन्ध रखते हैं, संस्कृत-प्रतिशब्द से नहीं ।

(क) जहाँ अर्थ-भेद में लिङ्ग आदि का भी भेद है वहाँ उस अर्थ के पूर्व में ही भिन्न लिङ्ग आदि का सूचक शब्द दे दिया गया है। जहाँ ऐसा भिन्न शब्द नहीं दिया है वहाँ उसके पूर्व के अर्थ या अर्थों के समान ही लिङ्ग आदि समझना चाहिए ।

(ख) प्राकृत में लिङ्ग-विधि खूब ही अनियमित है। प्राकृत के वैयाकरणों ने भी कुछ अति संक्षिप्त परन्तु † व्यापक सूत्रों के द्वारा इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है। प्राचीन ग्रन्थों में एक ही शब्द का जिस जिस लिङ्ग में प्रयोग जहाँ तक हमें दृष्टिगोचर हुआ है, उस उस लिङ्ग का निर्देश इस कोष में उस शब्द के पास कर दिया गया है। जहाँ लिङ्ग में विशेष विलक्षणता पाई गई है वहाँ उस ग्रन्थ का अवतरण भी दे दिया गया है ।

(ग) जहाँ स्त्री-लिङ्ग का विशेष रूप पाया गया है वहाँ वह अर्थ के बाद 'स्त्री—' निर्देश कर के रेफरेंस के साथ दिया गया है ।

(घ) प्राकृत में अनेक ग्रन्थों में अव्यय के बाद विभक्ति का भी प्रयोग पाया जाता है। इससे ऐसे स्थानों में अव्यय-सूचक 'अ' के बाद प्रायः लिङ्ग-बोधक शब्द भी दिया गया है; जैसे 'बला' के बाद 'अ. स्त्री'=(अव्यय तथा स्त्रीलिङ्ग)।

१३। देश्य शब्दों के संस्कृत-प्रतिशब्द के स्थान में केवल देश्य का संक्षिप्त रूप **'दे'** ही काले टाइपों में कोष्ठ में दिया गया है।

(क) जो धातु वास्तव में देश्य होने पर भी प्राकृत के प्रसिद्ध प्रसिद्ध व्याकरणों में संस्कृत धातु के आदेश कह कर तद्भव बतलाये गये हैं उनके संस्कृत-प्रतिशब्द के स्थान में 'दे' न दे कर प्राचीन वैयाकरणों की मान्यता बतलाने के उद्देश से वे वे आदेशि संस्कृत रूप ही दिये गये हैं। इससे संस्कृत से बिलकुल विसदृश रूप वाले इन देश्य धातुओं को वास्तविक तद्भव समझने की भूल कोई न करे ।

(ख) जो धातु तद्भव होने पर भी प्राकृत-व्याकरणों में उसको अन्य धातु का आदेश बतलाया गया है उस धातु के व्याकरण-प्रदर्शित आदेशि संस्कृत रूप के बाद वास्तविक संस्कृत रूप भी दिखलाया गया है, यथा **पेच्छ** के [**दृश्, प्र+ईक्ष्**] आदि ।

(ग) प्राचीन ग्रन्थों में जो शब्द देश्य रूप से माना गया है परन्तु वास्तव में जो देश्य न होकर तद्भव ही प्रतीत होता है, ऐसे शब्दों का संस्कृत-प्रतिशब्द दिया गया है और प्राचीन मान्यता बतलाने के लिए संस्कृत प्रतिशब्द के पूर्व में 'दे' भी दिया गया है ।

---

* देशीनाममाला ६, ९२ की टीका । † हेमचन्द्र-प्राकृत-व्याकरण, सूत्र १, ३३ से ३५ ।

(घ) जो शब्द वास्तव में देश्य ही है, परन्तु प्राचीन व्याख्याकारों ने उसको तद्भव बतलाते हुए उसके जो परिमार्जित—छिल छाल कर बनाये हुए संस्कृत—रूप अपने ग्रन्थों में दिये हैं, परन्तु जो संस्कृत-कोषों में नहीं पाये जाते हैं, ऐसे संस्कृत-प्रतिरूपों को यहाँ स्थान न देते हुए केवल **'दे'** ही दिया गया है।

(ङ) जो शब्द देश्य रूप से संदिग्ध है उसके प्रतिशब्द के पूर्व में **'दे'** भी दिया गया है।

१४। प्राचीन व्याख्याकारों ने दिये हुए संस्कृत-प्रतिशब्द से भी जो अधिक समानता वाला संस्कृत प्रतिशब्द है वही यहाँ पर दिया गया है, जैसे 'यहाणिय' के प्राचीन प्रतिशब्द **'स्नापित'** के बदले **'स्नानित'**।

१५। अनेक अर्थ वाले शब्दों के प्रत्येक अर्थ १, २, ३ आदि अंकों के बाद क्रमशः दिये गये हैं और प्रत्येक अर्थ के एक या अनेक रेफरेंस उस अर्थ के बाद सादे ब्राकेट में दिये हैं।

(क) धातु के भिन्न भिन्न रूप वाले रेफरेंसों में जो जो अर्थ पाये गये हैं वे सब १, २, ३ के अंकों से दे कर क्रमशः धातु के आख्यात तथा कृदन्त के रूप दिये गये हैं और उस उस रूप वाले रेफरेंस का उल्लेख उसी रूप के बाद ब्राकेट में कर दिया गया है।

(ख) जिस शब्द का अर्थ वास्तव में सामान्य या व्यापक है, किन्तु प्राचीन ग्रन्थों में उसका प्रयोग प्रकरण-वश विशेष या संकीर्ण अर्थ में हुआ है, ऐसे शब्द का सामान्य या व्यापक अर्थ ही इस कोष में दिया गया है; यथा—'हत्थिच्चग' का प्रकरण-वश होता 'हाथ के योग्य आभूषण' यह विशेष अर्थ यहाँ पर न दे कर 'हाथ-संबन्धी' यह सामान्य अर्थ ही दिया गया है। 'णक्खत्त (नक्षत्र)' आदि तद्धितान्त शब्दों के लिए भी यही नियम रखा गया है।

१६। शब्द-रूप, लिङ्ग, अर्थ की विशेषता या सुभाषित की दृष्टि से जहाँ अवतरण देने की आवश्यकता प्रतीत हुई है वहाँ पर वह, पर्याप्त अंश में, अर्थ के बाद और रेफरेंस के पूर्व में दिया गया है।

(क) अवतरण के बाद कोष्ठ में जहाँ अनेक रेफरेंसों का उल्लेख है वहाँ पर केवल सर्व-प्रथम रेफरेंस का ही अवतरण से संबन्ध है, शेष का नहीं।

१७। एक ही ग्रन्थ के जिन अनेक संस्करणों का उपयोग इस कोष में किया गया है, रेफरेंस में साधारणतः संस्करण-विशेष का उल्लेख न करके केवल ग्रन्थ का ही उल्लेख किया गया है। इससे ऐसे रेफरेंस वाले शब्द को सब संस्करणों का या संस्करण-विशेष का समझना चाहिए।

(क) जहाँ पर संस्करण-विशेष के उल्लेख की खास आवश्यकता प्रतीत हुई है वहाँ पर रेफरेंस की संकेत-सूची में दिये हुए संस्करण के १, २ आदि अंक रेफरेंस के पूर्व में दिये गये है; जैसे **पेसल** और **पेसलेस** शब्दों के रेफरेंस 'आचा' के पूर्व में '२' का अंक आगमोदय-समिति के संस्करण का और '३' का अंक प्रो. रवजीभाई के संस्करण का बोधक है।

१८। जहाँ कहीं प्राकृत के किसी शब्द के रूप की, अर्थ की अथवा संयुक्त शब्द आदि की समानता या विशेषता के लिए प्राकृत के ही ऐसे शब्दान्तर की तुलना बतलाना उपयुक्त जान पड़ा है वहाँ पर रेफरेंस के बाद 'देखो—' से उस शब्द को देखने की सूचना की गई है।

१९। जहाँ कहीं 'देखो' के बाद काले टाइपों में दिये हुए प्राकृत शब्द के अनन्तर सादे टाइपों में लिंगादि-बोधक या संस्कृत-प्रतिशब्द दिया गया है वहाँ उसी लिंग आदि वाले या संस्कृत प्रतिशब्द वाले ही प्राकृत शब्द से मतलब है, न कि उसके समान इतर प्राकृत शब्द से। जैसे **अ** शब्द के 'देखो **च अ**' के **च** से पुंलिंग **च** को छोड़ कर दूसरा ही अव्यय-भूत **च** शब्द, और **ओसार** के 'देखो **ऊसार** =उत्सार' के 'ऊसार' से तीसरा ही **ऊसार** शब्द देखना चाहिए; पहले, दूसरे और चौथे **ऊसार** शब्द को नहीं।

उक्त नियमों से अतिरिक्त जिन नियमों का अनुसरण इस कोष में किया गया है वे आधुनिक नूतन पद्धति के संस्कृत आदि कोषों के देखने वालों से परिचित और सुगम होने के कारण खुलासे की जरूरत नहीं रखते।